आनन्दसागर प्रेस, गायघाट, बनारस ।

गृहस्थी की तस्वीरें

लेखक—

श्रीयुत व्यथित हृदय

प्रकाशक—

भार्गव पुस्तकालय, गायघाट, बनारस।

[ब्रांच–कचौड़ीगली, बनारस]

प्रथमावृत्ति | १९४७ | मूल्य ३) सजिल्द ३॥)

राष्ट्र कवि श्रीयुत मैथिलीशरण जी की श्रीयुत व्यथित हृदय की पुस्तकोंपर अमूल्य सम्मति उन्हींके लिखित अक्षरों में पढिये ।

प्रिय महोदय !

पुस्तको और चित्रके लिये धन्यवाद ! पुस्तको की बाहरी तडक भडक देखकर पहले तो कुछ भय हुआ कि इनमे क्या होगा परन्तु उलटने पलटने पर सन्तोष हुआ । आपका प्रकाशन उपयोगी है इसका कहना ही क्या है । आशा है वह प्रचार पायेगा । और आपका श्रम सफल होगा । शरीर ठीक न रहने से अधिक मैं लिख पढ नही पाता । परन्तु अमर नाथ जी, अन्नपूर्णानन्द जी की कथन ही मेरे लिये पर्याप्त है । आप सानन्द होंगे । कृपा रखिये । आपका —

मैथिली शरण

भूमिका

श्री व्यथित हृदय जी का नाम हिन्दी के पाठकों के लिये नया नहीं है। बहुत दिनों से लगातार लिखते रहने के कारण हिन्दी भाषा भाषी उनकी विचार धारा से अच्छी तरह परिचित है। अतः आज इनकी कहानियों के बारे में विशेष रूप से कुछ कहना आवश्यक नहीं प्रतीत होता।

प्रस्तुत संग्रह में लगभग बारह कहानियाँ है। जैसा कि पुस्तक के नाम से ही प्रगट है ये समस्त कहानियाँ गृहस्थी की विभिन्न तस्वीरें उपस्थित करती है। गृहस्थ-जीवन के अनेक पहलुओं का लेखक ने सूक्ष्म अध्ययन किया है तभी वह उसका चित्रण अत्यन्त स्वाभाविक एवं मार्मिक ढंगसे करने मे सफल हो सके है। आज के समाज की अनेक कुरीतियों का कारण बहुत कुछ, हमारे गृहस्थ जीवन की विषमता ही है। हमारे चरित्र एवं व्यक्तित्व के निर्माण में हमारे पारिवारिक जीवन का सबल हाथ है! अतः हमारे कलाकारों को इस ओर सतर्क एवं अधिक क्रियाशील होकर हाथ बढ़ाना चाहिए। वस्तुतः इसकी उपेक्षा करके वे समाज को स्वस्थ नहीं बना सकते। व्यथित हृदय जी का यह प्रयास इस दृष्टिकोण से और अधिक प्रशंसनीय है।

कहानी कला की दृष्टि से इन कहानियों के विषय में मुझे कुछ अधिक नही कहना है। समस्या प्रधान कहानियाँ लिखना अत्यन्त कठिन कार्य है। उसमें लेखक को समस्या ही नहीं अपितु वातावरण की प्रभावोत्पादकता, चरित्रो का गठन, चरमसीमा की उत्कृष्टता आदि का भी ध्यान रखना पड़ता है। अतः समस्या प्रधान कहानियों के अन्तर्गत आए हुये अथ कलात्मक दोषों को हमें क्षमा ही करना

पड़ेगा ! हमे देखना यह चाहिये कि वर्णित समस्या को सुलझाने में या उसके स्पष्टीकरण में लेखक कितना सफल हुआ है। जो भी हो, हमें प्रसन्नता है कि प्रस्तुत संग्रह की कहानियों का लेखक काफी प्रौढ़ है इसलिये वह अपने उद्देश्य मे पूर्णतया सफल हुआ है। वैचित्र्य का अभाव होते हुए भी अपनी स्वाभाविकताके कारण ये कहानियाँ काफी रोचक है।

पारिवारिक जीवन मे पुरुष तथा नारी के विचारों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण साधारण सन्देहात्मक प्रवृत्तियों एवं भूलों का गृहस्थ जीवन के ऊपर भयंकर प्रभाव तथा उसका दयनीय परिणाम, अर्थ का अभाव या पिपासा का नग्न नृत्य इन सबके अत्यन्त मार्मिक एवं प्रभावशाली चित्र इन कहानियों में लेखक ने उपस्थित किये है।

मुझे पूर्ण आशा है कि इन कहानियों से पाठको का केवल मनोरंजन ही नही होगा अपितु उन्हें अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने में भी सहायता मिलेगी।

हिन्दी विभाग,
प्रयाग, विश्वविद्यालय।

उदयनारायण तिवारी
एम० ए० डी० लिट०

दो शब्द

'गृहस्थी की तस्वीरें' आपके हाथ मे है। आप देखेगे, कि इसमे क्या है? 'गृहस्थी की तस्वीरें' मे मेरा प्रयत्न तो इस बात के लिये है, कि आपको उसमे आपके गार्हस्थ्य जीवन के वे चित्र मिले, जो बनते तो छोटी-छोटी बातो के कारण है, पर अपने भीतर गंभीर परिणाम छिपाये रहते है। मै कह नहीं सकता, कि उन चित्रों के ऑकने में मुझे कितनी सफलता प्राप्त हुई है, पर मै यह अवश्य कहूँगा, कि मैंने प्रयास किया है।

अभी जब मै जेल मे था, तब मुझे स्वर्गीय शरत्‌चन्द्र की कहानियो को पढने का अवसर प्राप्त हुआ। उन कहानियो को पढ़ने के पश्चात् मै जब हिन्दी के कहानी-साहित्य की ओर दृष्टिपात करता हूँ, तब मुझे शरत्‌चन्द्र की कहानियो के वे पात्र कहीं नही दिखाई देते, जो विपरीत प्रवृति और प्रकृति के केन्द्र गार्हस्थ्य जीवन के गूढ़ातिगूढ द्वन्दो और रहस्यो पर प्रकाश डालते हो। मै कह तो नहीं सकता, कि 'गृहस्थी की तस्वीरें' की कहानियो के पात्र गार्हस्थ्य जीवन के रहस्यों को प्रगट करने मे समर्थ हो सके है, पर मै यह अवश्य कहूँगा, कि वे उस दिशा मे चले हैं। हो सकता है, भविष्य मे वे उनकी वास्तविक छवि ऑक सके, क्योकि उनके स्रष्टा का सारा प्रयत्न इसी बात के लिये है।

'श्रमिक निवास
२३२ ए कटरा, प्रयाग
२२।६।४७

विनीत—
व्यथित 'हृदय'

भेंट
श्रीयुत
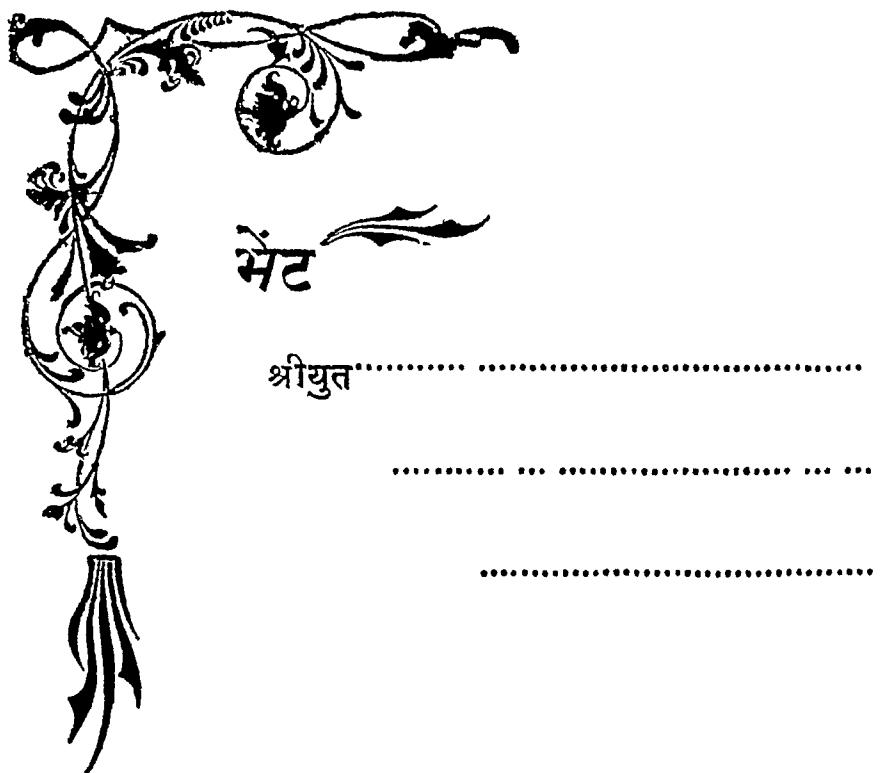
समर्पण

जिनके लिये इनकी रचना की गई है
उन्हींको बड़े प्रेम
और
श्रद्धा के साथ

—व्यथित हृदय

विषय सूची

गृहस्थी कीं तस्वीरें

पहली कौंध

वह बादल था, हाँ बादल। यह जो नीला नीला अम्बर तुम देख रहे हो, वह उसीके ऊपर विचरण किया करता था। नीले अम्बर के ऊपर वह कहीं रुकता भी था, कह नहीं सकते, पर वह रुकता अवश्य चाहता था। वायु के झँकोरों के प्रवाह में बहते बहते जब वह परिश्रान्त हो जाता, तब अम्बर के किसी कोने में रुकने की उसके मनमें साध उत्पन्न हो उठती और वह वायु के झँकोरों से लड़कर कहीं न कहीं अपने को अचल भी कर लेता, पर न जाने क्यों कुछ ही क्षणों के पश्चात् उसके श्रान्त मनमें आकुलता का ज्वार-सा उठने लगता, और वह फिर उदास-सा होकर चल देता। जब चल देता, तब फिर वायु का प्रवाह उसे निराश्रित की भाँति उड़ा ले जाता, दूर, बहुत दूर तक।

बादल वायु के प्रवाह में निरन्तर उड़ा ही करता। न जाने कितने रेगिस्तान उसने देखे और न जाने कितने पर्वतों की चोटियों का उसने चुम्बन किया। कई बार रेगिस्तानो के हा-हाकार को सुन कर बादल दयार्द्र भी हो उठा, और करुणा ने उसके हृदय को सहलाया भी; पर वह केवल उमड़ कर रह गया। विधवा की भाँति विलाप कर रेगिस्तान अपना अञ्चल फैलाये ही रह गया, और बादल केवल 'शी' करके चला गया। कई बार रंग-बिरंगी चूनरों की घूँघट काढ़े हुये पर्वत की ऊँची चोटियों ने बादल को धक्का भी दिया, पर बादल उसे केवल उनकी धृष्टता समझ कर मौन रह गया।

पर यह न समझिये कि बादल की इस अनवरत उड़ान में उसका हृदय प्रसन्न रहता था ! वह उड़ता अवश्य था ; पर उसके मनमें एक गहरी टीस-सी पैदा होती थी। वह उस टीस को सोचता तो न था, पर अनुभव अवश्य करता था। उसे ऐसा लगता था; मानों उसका हृदय किसी महान् अभाव का अनुभव कर रहा है। कभी कभी उसे ऐसा भी लगता था, मानों उसका जीवन ही अधूरा है। बादल अपने हृदय की इस अनुभूति से प्रायः अभिभूत-सा रहता। वह नीचे की ओर देखता, ऊपर की ओर देखता ; सागर की ओर देखता और पर्वत की ओर देखता ; पर उसके जीवन का अधूरा स्वप्न पूरा न होता, उसकी अभिभूतता न्यून न होती ; और वह वायु के प्रवाह में उस छोटी तरी की भांति इधर से उधर थपेड़े खाया करता, जिसका या तो कोई खेवैया नही होता, और या जो बिना पतवार की होती है।

बादल के हृदय की अनुभूति ज्यों ज्यों बढ़ने लगी, त्यों त्यों बादल अभाव की पीड़ा से अधिक व्याकुल भी होने लगा। अभाव की इस पीडा ने बादल को बिलकुल उन्मत्त बना दिया। रेगिस्तानों और बन्जरों की उष्ण वायु में बादल अब बिलकुल उन्मत्तों की भाँति ही विचरण किया करता ! अब वह उन्मत्तों की भांति ही पर्वतों की चोटियों से भिड़ जाता, और रेगिस्तानों की प्रचण्ड उष्ण आँधियों में घुस जाता, पर्वत की चोटियों और रेगिस्तानों की आँधियों का तो कुछ न बिगड़ता पर बादल की दुर्गति हो जाती ! चोटियाँ उससे टकरा कर उसे अस्त-व्यस्त कर देती, और आँधियाँ धूलि का अम्बार उठाकर उसके मुँहपर इतने जोर से पटक देती कि बादल को भागते ही बनता ! बादल की इस दुर्गति पर रेगिस्तानों और चोटियों का भीषण अट्टहास ! बेचारा बादल केवल उनकी ओर निहार कर रह जाता।

सन्ध्या का समय था। बादल अम्बर पर उड़ा जा रहा था। -व्यस्त, जीर्ण-शीर्ण, टूटा हुआ, बिखरा हुआ ! उसके एक एक

खण्ड पर उसके हृदय की छाप थी , उसके आन्तरिक वेदना की लहर थी ! बादल उडता हुआ सोच रहा था, 'इसी प्रकार कब तक ? क्या यह जीवन जीवन भर उड़ने के लिये ही बना हुआ है ? यह तो ठीक नही ! कही रुकना चाहिये, पर कहाँ रुके, कहाँ . !" बादल इसके आगे कुछ और सोच न पाता, और विवश हो उठता। साथ ही उसके हृदय की कचोट भी अधिक बढ़ जाती; और उसे ऐसा लगता, मानों उसके हृदय की पीड़ा उसके हृदय को फाड़कर अशनि की भाँति पृथ्वी पर टूट पड़ना चाहती है।

बादल को उस सन्ध्या मे भी ऐसा ही आभास हुआ, और उसने रुक कर अपना हृदय जोर से पकड़ लिया। बादल का हृदय जोर से धक् धक् कर रहा था। ऐसा लगता था, मानों वह सचमुच विदीर्ण हो जाना चाहता है। बादल अम्बर मे स्थित होकर अपनी दयनीय दशा पर मन ही मन अधिक व्याकुल हो उठा।

सहसा बादल को ऐसा लगा, मानो किसी ने उसके जलते हुये हृदय पर ठंडे मलहम का लेप कर दिया हो। बादल विस्मय-चकित होकर इधर-उधर देखने लगा। उसने देखा, नीचे सागर था, और वह लहरो का सुभग सोपान बना कर ऊपर चला आ रहा था। बादल कुछ क्षणो के लिये अपनी आकुलता को विस्मृत-सा हो गया, और वह कुछ देर तक निर्निमेष दृष्टि से सागर की ओर देखकर मन्द स्वर से बोल उठा—सागर !

इस समय कुछ नहीं बादल !—सागर ने सीढियाँ लाँघते-लाँघते उत्तर दिया।

सागर की गति मे तीव्रता थी, और अधिक तीव्रता। वह अपने हृदय का सारा बल एकत्र कर ऊपर बढ़ा जा रहा था। बादल मन ही मन हैरान हो रहा था, सागर की इस तीव्र गति पर ! बादल अपने को शान्त न रख सका। वह सागर की ओर विस्मय की

दृष्टि से देखता हुआ पुनः बोल उठा, आखिर कहाँ तक जाओगे सागर!

सागर ने बादल की ओर देखा। बादल खोया-खोया, क्षिप्त-सा, उन्मन और उदास! सागर के मन के ऊपर करुणा लोट गई, और वह सीढ़ियाँ लाँघते ही लाँघते बोल उठा—'आज पूर्णिमा है बादल!''

पूर्णिमा है—बादल के मुख से विस्मय पूर्वक निकल पड़ा, और वह मौन होकर कुछ गंभीर-सा बन गया।

सागर ने बादल की ओर दृष्टिपात किया। यद्यपि बादल ने सागर के इस दृष्टिपात को देखा नहीं, किन्तु यदि वह देखता तो देखता कि सागर के उस दृष्टिपात में उसके निराश जीवन की कितनी मार्मिक पीड़ा थी, और पीड़ा ही के कारण उसकी वे आँखे कितनी भावुक बन गई थीं। सागर बादल के विस्मय पर अपनी पीड़ा जनित भावुकता में कुछ डूब कर बोला—हाँ बादल, आज पूर्णिमा है! देख रहे हो न, ऊपर अम्बर पर चन्द्र विहँस रहा है, मैं अपनी लहरों की सीढियाँ लगा कर चन्द्र के पास पहुँचना चाहता हूँ बादल!

तुम चन्द्र के पास पहुँचना चाहते हो सागर!—बादल सकरुण होकर बोल उठा—क्या तुम चन्द्र के पास पहुँच सकोगे!

कह नहीं सकता बादल!—सागर ने पीड़ा के स्वर में उत्तर दिया—काश कभी उसके पास पहुँच कर उसका संस्पर्श कर सकता! सुना है बादल, पूर्णिमा को संसार की रचना संपूर्ण हुई थीं, इसी लिये मैं भी बादल, प्रति पूर्णिमा को ही चन्द्र के पास पहुंचने की साधना करता हूँ। कदाचित् मेरी साधना कभी पूरी हो जाय!

बादल का हृदय कुछ सिहर उठा, और उसे ऐसा लगा, जैसे उसके जलते हुए हृदय के प्याले में किसी ने मीठा, और ठंढा शरबत घोल दिया हो! बादल कुछ उन्माद में आकर बोल उठा—तो क्या अधूरा जीवन भी...!

बादल ने समझा, उसकी बात सागर ने नहीं सुनी ! पर सागर तत्क्षण उसकी ओर देख कर बोल उठा—किसका अधूरा जीवन बादल !

कुछ नहीं सागर—बादल शीघ्र कह उठा—तुम जाओ ! अभी तुम्हें बहुत सीढ़ियाँ पार करनी हैं।

सागर ने बादल का यह अन्तिम स्वर बड़े ध्यान से सुना, और उसे बड़े ध्यान से देखा भी। सागर को ऐसा लगा, जैसे बादल के रूप में कोई दूसरा सागर ही बोल रहा हो ! सागर बादल को देखता-देखता आगे बढ़ गया, और बादल देर तक खडा सोचता रहा, 'क्या मेरा अधूरा जीवन भी...।

[२]

'तुम कौन हो ?'

मैं ? मै मेदिनी है।

और तुम ?

मेरा नाम बादल है ।

नाम तो अच्छा है , और कदाचित् तुम स्वयं भी कभी अच्छे रहे होगे !

और अब ?

कदाचित् विश्वास न करो ! लो, इस दर्पण में अपना मुँह देख लो।

मेदिनी ने दर्पण निकाल कर बादल की ओर बढा दिया। बादल उसे अपने सामने से हटाता हुआ बोल उठा—नहीं, इसकी आवश्यकता नहीं। मै जानता हूँ।

बादल चुप हो गया, और ध्यान से मेदिनी की ओर देखने लगा। मेदिनी पूछ बैठी—क्या देख रहे हो ?

तुम्हारा रूप !—बादल ने गंभीरता के स्वर में उत्तर दिया।

मेरा रूप !—मेदिनी विस्मय के स्वर में बोल उठी, और अधिक

खिन्न-सी हो उठी, मानों किसी स्मृति ने उभर कर उसके हृदय को मसल दिया हो।

बादल ने मेदिनी की ओर देखा। मेदिनी की आकृति पर विषाद के चिह्न उभर आये थे। बादल मेदिनी की ओर देखता हुआ बोल उठा—क्यों, तुम खिन्न क्यों हो गई मेदिनी ?

कुछ तो नहीं बादल !—मेदिनी ने उत्तर दिया—तुम्हें भ्रम हो गया है।

तुम न बताओ मेदिनी !—बादल ने कहा—पर मैं समझ गया।

क्या ?—मेदिनी बादल की ओर विस्मय पूर्वक देखती हुई बोल उठी !

तुम्हारा रूप !—बादल ने मेदिनी की ओर देखते हुये कहा—कभी बड़ा भव्य रहा होगा; पर आज, जैसे किसी अभाव की आग मे झुलस गया हो।

मेदिनी ने बादल की ओर देखा, और बादल ने मेदिनी की ओर। मेदिनी कुछ ऊपर उठी, और बादल कुछ नीचे झुक आया। बादल मेदिनी के कुछ सन्निकट पहुँच कर बोल उठा—घबड़ाओ मत मेदिनी, जगत परिवर्तन शील है !

और तुम भी आकुल न हो बादल !—मेदिनी ने बादल की ओर देखते हुये कहा—संसार का रथ चक्र निरन्तर चलता रहता है।

बादल कुछ और नीचे झुका। उसे ऐसा लगा, मानों उसकी रग-रग में सिहरन की लहर दौड़ उठी हो। उसे ऐसा भी लगा, मानो नीचे कोई आकर्षण-शक्ति हो, और वह बादल को पूरी शक्ति से अपनी ओर खीच रही हो। बादल ध्यान से मेदिनी की ओर देख कर बोल उठा—मेदिनी !

बादल के स्वर में स्नेह की उत्कण्ठा थी, साध थी। मेदिनी का हृदय स्निग्धता से परिपूर्ण हो उठा। वह बादल की ओर स्नेहपूर्ण

दृष्टि से निहार उठी, और बादल के ही स्वर में बोल उठी, कहो, बादल!

बादल कुछ और नीचे झुका; और उसके पास पहुँच कर बोल उठा, तुम झलस गई हो मेदिनी!

और तुम भी जर्जर से हो गये हो बादल!—मेदिनी ने कुछ लजा कर उत्तर दिया।

बादल ने अपना मुख आगे बढाया। मेदिनी कुछ न बोली। बादल को ऐसा लगा, जैसे उसका स्वप्न पूरा हो रहा है, और उसका अधूरा जीवन। बादल को ऐसा भी लगा, जैसे उसके जीवन की व्यथा घुलती जा रही है, और बुझती जा रही है, उसके अभाव की आग! बादल ने उत्कंठा से ललक कर अपनी दोनों भुजाएँ आगे बढा दी, पर बादल का स्वप्न...!

बादल उठ कर बैठ गया। और उन्मत्त की भाँति इधर-उधर देखने लगा। उसने सामने देखा, नीचा अम्बर फैला हुआ था, और वह स्वयं उस नीले अम्बर के एक कोने में चुपचाप पड़ा था। बादल सोचने लगा—वह स्वप्न! मेदिनी! वह मेदिनी! यदि जागृत अवस्था में भी मिल सकती वह मेदिनी!

बादल ने एक ठंढी आह भर कर नीचे को ओर झाँका। बादल विस्मय चकित हो उठा। उसने देखा, स्वर्ण परिधनो का घूँघट ओढ़े हुये कोई नीचे खड़ा है।

बादल उठ कर बैठ गया, और कुछ देर तक ध्यान से उसकी ओर देखकर नीचे की ओर झुक पड़ा। बादल उसके सन्निकट पहुँच कर विस्मय की मुद्रा से उसे देखने लगा, कुछ क्षणों तक उसे देखता रहा, फिर विस्मय के स्वर मे बोल उठा—कौन? तुम तुम!

उसने भी बादल को विस्मय की दृष्टि से देखा। उसका दृष्टिपात! बादल को ऐसा लगा, मानों वह फिर स्वप्न देख रहा हो! बादल ने

अपनी चेतना को सँभाल कर बार बार उसकी ओर देखा; और वह एक साथ ही जोर से चिल्ला उठा—मेरा अधूरा स्वप्न; मेरा अधूरा जीवन !

बादल उसकी ओर लपक पड़ा। उसने बादल को रोका ; पर बादल के हृदय में रह-रह कर बिजली कौंधने लगी; और उसे ऐसा लगा, जैसे उसने अब अपने जीवन के सत्य को पा लिया हो !

बादल जब उसकी ओर लपका, तब वह कुछ पीछे हट कर बोल उठी—तुम्हें दृष्टि भ्रम हो गया है। मेरा नाम मेदिनी है।

मेदिनी ! बादल के हृदय की बिजली और भी जोर से कौंधी, और वह पागलों की भाँति बोल उठा—हाँ हाँ मेदिनी ! मै मेदिनी ही को तो चाहता हूँ मेदिनी !

मेदिनी बादल की गति को देख कर कुछ भयभीत-सी हुई। पर बादल रंच मात्र भी न रुका। उसके हृदय की बिजली कौंधती ही गई। और कौंधती ही गई। वह दौड़ कर मेदिनी के पास पहुँचा, और उससे सिमट गया। मेदिनी का स्वर्ण परिधान हरित वर्ण का हो गया, और बादल ! उसे तो ऐसा लगा, जैसे मेदिनी के रूप में उसे नवीन जीवन प्राप्त हो गया हो।

मेदिनी और बादल, उसी दिन से दोनों एक साथ रहते हैं। मेदिनी को देखकर बादल के हृदय में जो बिजली कौंधी थी, वह अब भी कौंधती है, और कदाचित् युग-युगान्तर तक कौंधती रहेगी। मेदिनी थके हुये बादल को सहलाती है, और बादल मेदिनी को हरी-भरी देखने के लिये अपने को मिटा देता है।

जीवन का यही चिर सत्य है। काश, हमारे गार्हस्थ्य जीवन में स्त्री, पुरुष इस सत्य को समझ पाते !

पीहर के पत्र

"पत्र है बाबू !"

सतीश ने कमरे से बाहर निकल कर पोस्टमैन के हाथ से पत्र ले लिया।

नीले रंग का लिफाफा, सौरभ में सना हुआ, अक्षर बड़े सुन्दर-सुन्दर थे उस पर—"श्रीमती सुधा बी० ए०, केयर आफ सतीश चन्द्र वर्मा, गाड़ीवान टोला, रंगपुर।"

"श्रीमती सुधा बी० ए०"। सतीश की दृष्टि कुछ क्षणों में ही कई बार उस पर दौड़ गई। उसने लिफाफे को दो तीन बार उलट-पुलट कर देखा, और देखा, पुनः पुनः श्रीमती सुधा बी० ए०। सतीश की उँगुलियाँ लिफाफे के कोनों की ओर दौड पड़ी, और वह लिफाफा फाड़ कर पत्र पढने के लिये उद्यत हो उठा। पर फिर कुछ सोच कर रुक गया, और कमरे में लौटकर कुर्सी पर बैठ कर विचारों में मग्न-सा हो गया।

" किसका पत्र होगा यह ! क्या सुधा की माँ का; पर लिखावट तो किसी पुरुष की जान पड़ती है। हो सकता है, उसके भाई सुशील का हो, पर अभी कल्ह ही तो सुशील का पत्र आया है; और यह पत्र भी तो कुछ नवीन ढंग का है—श्रीमती सुधा बी० ए०, केयर आफ सतीश चन्द्र वर्माः अर्थात् पत्र भेजने वाले का उद्देश्य-संबंध सुधा से है, न कि मुझसे। यह कौन है, जिसने उसे सामने से हटा कर सुधा को प्रमुखता दी है।"

सतीश के मन के एक कोने में एक आँधी सी उठ खड़ी हो गई। सतीश ने आँधी के उसी आवेग में एक बार फिर अपनी उँगुलियों को तीव्र कैंची की भाँति आगे बढाया, और चाहा, कि लिफाफे को कुरूपता से फाड़ कर उसके भीतर से पत्र निकाल ले, पर उँगुलियाँ

लिफाफे पर केवल लग कर रह गई, और सतीश मन ही मन पुनः कुछ सोचने लगा। ऐसा लगा, मानों कुछ स्थिर कर रहा हो, या आवेगमें कुछ असावधानी करने जा रहा हो,और सँभल कर रुक गया हो!

सतीश की उँगुलियों पर अब आवेग न था। वे निस्सन्देह मौन थी; पर निस्सन्देह सतीश के भीतर की सतर्कता की सूचना दे रही थी। कुछ क्षणों के पश्चात् सतीश की वे उँगुलियाँ पुनः हिली, पर अब उनमे तीव्रता नही, मन्दता थी, आवेग नहीं, सतर्कता थी। सतीश ने ऐसे कौशल से लिफाफे को खोला, कि यदि पत्र पढ लेने के पश्चात् आवश्यकता प्रतीत हो तो वह पुनः पत्र को लिफाफे के भीतर रख कर उसे जोड़ दे, और जिसका पत्र है, उसे बिलकुल सन्देह न हो।

सतीश ने पत्र को लिफाफे के भीतर से निकाल कर एक बार दौड़ती हुई दृष्टि से देखा। लिफाफे की भाँति ही पत्र का कागज भी नीला-नीला; सौरभ में सना हुआ, और अक्षर भी वही सुन्दर-सुन्दर,। सतीश का कलेजा धक् धक् कर रहा था। उसे ऐसा लग रहा था, जैसे उसका हृदय साँसो मे लिपट कर बाहर निकला पड़ रहा हो! सतीश अपनी इसी स्थिति में एक बार दौड़ती हुई दृष्टि से पत्र को देख गया। उसने ऊपर देखा चाँदपुर और फिर नीचे कैलाश!

"चाँदपुर, और कैलाश! कौन कैलाश!" सतीश के अन्तस्तल से ध्वनि निकली, और वह उसके हृदय-कूलों से टकरा कर बार-बार ध्वनित होने लगी। सतीश ने दो-तीन बार पत्र पर दृष्टि डाली। शीघ्रता में दो-तीन बार उसने कुछ पढा, और कुछ छोड़ दिया, पर उतने से ही एक भावना सतीश के हृदय पर लोट गई; और जब वह लोट गई तो सतीश का हृदय जो धौकनी की भाँति साँसे उगल रहा था, कुछ स्थिर हो गया, और सतीश पुनः अपनी स्वस्थता में पत्र पढने लगा :—

प्रिय सुधा ? चाँदपुर
प्रसन्न रहो। ५-२-४७

दो सप्ताह में ही तुम भूल गईं सुधा ? अरे एक पत्र तो लिखती ! खैर, तुम कुशल से रहो, और सुख पूर्वक नया जीवन बिताओ; यही हमारी आन्तरिक कामना है। पर कभी-कभी याद कर लिया करो सुधा ! शेष कुशल है, आशा है तुम भी सकुशल होगी !

वही—कैलाश

पत्र पढ़ने पर सतीश के हृदय मे एक स्तब्धता-सी डोल गई। कुछ क्षणों के लिये उसके हृदय के विचार छिद्रों पर जैसे किसी ने कोई आवरण डाल दिया हो। उसके हृदय-प्रान्त मे चारों ओर सन्नाटा ! पर जिस प्रकार वायु की स्थिरता आँधी की सूचना देती है , ठीक उसी प्रकार ऐसा लग रहा था कि सतीश के हृदय प्रान्त में जो स्तब्धता छा उठी है, वह आँधी के स्वरों से भंग होगी, और निश्चय भंग हुई। सतीश रह-रह कर पत्र को पढने लगा। सतीश ने जितनी बार पत्र पढा, उसकी दृष्टि "प्रिय सुधा और वही कैलाश" पर स्थिर हो गई। सतीश पत्र पढते ही पढ़ते विचारों की लहरियो में वहने लगा—

"प्रिय सुधा, और वही कैलाश ! "वही", कौन ? अवश्य इस 'वही' में अतीत की कोई रहस्यपूर्ण कहानी है। कोई ऐसी कहानी है, जो निस्सन्देह अधूरी रह गई है, और जिसके लिये अवश्य कैलाश के हृदय में वड़ी पीड़ा है, पर सुधा ! हो सकता है, सुधा के मन के भीतर भी कहीं पीड़ा की लहर चुपचाप सो रही हो। अभी दो-तीन सप्ताह तो उसे आये ही हुये। पर इस दो-तीन सप्ताह मे ही कितनी चिट्ठियाँ आ गईं उसके पास ! कुछ सहेलियों की, कुछ घर की, और कुछ वाहर की ! पर यह सुधा पीहर के पत्र पाने पर रोने क्यों लगती है। उसने जब नये जीवन में प्रवेश किया है, तब उसमें उल्लास होना

चाहिये, उमंग होनी चाहिये, और होना चाहिये उन्माद, पर सुधा में जैसे यह सब कुछ नहीं है, जैसे वह सब कुछ यहाँ छोड़ कर आई है, उसका रोता हुआ मन उदास आँखें। पीहर के पत्र पाते ही जैसे उसके हृदय में स्मृति का ज्वार-सा उत्पन्न हो जाता है, और गोल गोल अश्रु-बूँदें आँखों से निकल कर इतनी तेजी से कपोलों पर बहने लगती है, कि स्वयं मै भी उनके प्रवाह में तिनके की भाँति बह जाता हूँ। यह कैलाश; और सुधा के हृदय का वह स्मृति ज्वार! निस्सन्देह...।"

सतीश के हृदय में पत्र पाने पर जो संदेह की एक हलकी रेखा अंकित हो उठी थीं, उसे विचारों ने अब और भी अधिक प्रगाढ़ बना दिया। सन्देह की इस प्रगाढ़ता से नवीन जीवन की उमंग सतीश के हृदय से उड़ गई; और अब उसके मनके एक कोने में ही सही, ईर्षा और विद्रोह ने जन्म ले लिया। सतीश अब कुछ सजग और सतर्क सा हो गया। सुधा के आने पर उसने अपने जीवन की जो डोर निःसंकोच सुधा के हाथों में दे दी थी, और जिसे हाथों में लेकर सुधा निश्चिन्तता से अपने जीवन-रथ को उड़ाये चली जा रही थी, उसने उस पर अपना हाथ रख दिया। सतीश ने कुछ सोच कर लिफाफे को बन्द कर दिया, और वह उसे लेकर स्वयं सुधा के पास गया।

सुधा अपने कमरे में चटाई पर बैठ कर पत्र लिख रही थी। सतीश को देखते ही उसने पत्र का कागज मोड़ कर पुस्तक में रख दिया। सुधा का जो भी भाव पत्र के कागज को मोड़ने में रहा हो; पर सतीश के मन में जो संदेह का अंकुर निकल आया था, उससे उसे कुछ प्रोत्साहन ही प्राप्त हुआ, और सतीश एक रहस्यमयी दृष्टि से सुधा की ओर देखते हुये बोल उठा, पत्र लिख रही हो सुधा!

सुधा मौन रही। उसने केवल एक छलकती हुई दृष्टि से सतीश की ओर देखा। सतीश को उसमें अविश्वास की लहर-सी नाचती हुई प्रतीत हुई। किन्तु उसने अपने हृदय के विचारों को उभड़ने न

दिया; और बिलकुल प्रकृत स्वर में ही वह पुनः बोल उठा—यह तुम्हारे नामका एक पत्र है सुधा !

सतीश ने लिफाफा सुधा के आगे चटाई पर गिरा दिया, और इस आशा से कुछ देर तक खड़ा-खड़ा उसकी ओर देखता रहा, कि कदाचित् सुधा कुछ कहे, पर सुधा कुछ न बोली। सतीश पीछे की ओर लौट पड़ा; पर उसके हृदय के ऊपर एक असह्य भार-सा ज्ञात हो रहा था, और उसे ऐसा लग रहा था ; जैसे उसका हृदय दबा जा रहा हो।

सतीश अपने कमरे में जाकर कुर्सी पर बैठ गया। उसका हृदय अब एक ऐसे जल का पात्र-सा बन गया था, जिसमें रह-रह कर बुलबुले फूट रहे हों। सतीश व्याकुल सा हो उठा। उसका मन तूल के उस रेशे की भाँति बन गया, जो वायु में उड़ता हुआ किसी स्थान में स्थिर न होने पा रहा हो। सतीश कुछ देर के पश्चात् पुनः कुर्सी से उठा, और सतर्क गति से घर के भीतर की ओर चल पड़ा। वह सुधा के कमरे के पास द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। उसने देखा सुधा कैलाश का पत्र पढ़ रही है, और उसकी आँखों से आँसू भी निकल रहे है। सतीश ने सुधा को अच्छी तरह देखा। सुधा के इस दर्शन में सतीश को कुछ और ही भाव मिले ! सतीश के मन में पैठ कर, उन भावों ने सतीश को ईर्षा की गोद में सुला दिया। सतीश भूल गया अपने जीवन का मार्ग। वह काँटों के पथ पर दौड़ने के लिये उद्यत हो उठा, और उद्यत हो उठा इस बात के लिये कि वह अपने तीव्र नाखूनों से ही अपने हृदय को क्षत-विक्षत कर ले, और उससे जो रक्त निकले, उसमें काल के अँगूठे को डुबो कर उससे कह दे, कि वह उसका एक टीका सुधा के मस्तक पर काढ़ दे।

सुधा ! सतीश की सतर्कता से कहिये; या अपने मन की अज्ञानता से; सतीश के मन की इस गति को समझ न सकी, और सतीश ईर्षा की गोद मे सोकर अपनी राह को भूलता ही गया, भूलता ही गया।

[२]

मानव का मन ! बडा अद्भुत होता है मानव का मन। वह जब अपने प्रिय से प्यार नहीं पाता, अथवा जिसकी ओर वह तीव्र गति से दौड़ता है, और वह जब उसे उपेक्षा की कंकरीटे मार कर उससे दूर खिसक जाता है, तब वह उसका तो कुछ अपकार नहीं करता, इसके विपरीत अपने ही ऊपर विपत्तियों का आवरण डाल लेता है, और यदि कही उसका उससे कुछ सांसारिक लगाव हुआ तो फिर वह अपने को निःसंकोच बलिदान की आग में झोंक कर उसे हानि पहुँचाने का भी प्रयत्न करता है।

सतीश का मन भी कुछ इसी प्रकार से काम करने लगा। सुधा के आगमन पर उसके हृदय मे प्रणय की जो सरिता उमड़ आई थी, वह अब सूख गई ; और अब सतीश का हृदय उस रेगिस्तान की भाँति हो गया, जो दिन रात अपने अन्तस्तल की ज्वाला से धायँ-धायँ जला करता है। सतीश अब अपने जीवन से विरक्त-सा हो उठा। उसे न अब अपने शरीर का ध्यान रहता, और न अब अपने खाने पीने का। वह खाता-पीता अवश्य, पर अब वह सब उसके भीतर की प्रचण्ड प्रज्वलित अग्नि में पड़ कर उसी प्रकार झुलस जाता, जिस प्रकार जलते हुये रेगिस्तान में पड़ कर एक छोटीं-सी बूँद झुलस जाती है।

सतीश का शरीर कुछ ही दिनों में जैसे घुलने सा लगा, और उसकी आकृति पर पुरुषत्त्व का जो आकर्षण था, वह जैसे धूमिल-सा पड़ गया। बाहर सतीश के मित्र उसके शरीर की इस नवीन स्थिति को देख कर उस पर मधुर व्यंग्य करते, और कुछ कुछ ऐसे भी होते, जो व्यंग्य की चुटकी काट कर उसे सतर्क भी करते; पर घर के भीतर सतीश को कुछ न मिलता। सुधा सतीशको देखती, उससे बातें करती, पर कभी उसके जलते हुये हृदय पर हाथ न फेरती ! जल जाने के भय से, या उपेक्षा के भाव से; या और किसी कारण वश, कह

नहीं सकते; पर सुधा सतीश के शरीर की इस नवीन स्थिति को देख करके भी प्राय: मौन ही रहती। सतीश सुधा से कुछ पाने की आशा से उसके पास जाता; उससे बातें करता, और कभी कभी बाहर की सुनी सुनाई स्वास्थ्य संबंधी बातें भी उसके सामने कह देता; पर फिर भी सुधा की कोमल उँगुलियाँ न उठतीं, और जब वे न उठतीं, तब सतीश के मन के घाव में और भी अधिक पीड़ा उत्पन्न हो उठती; और साथ ही सन्देह का वह अंकुर भी शक्ति पाकर अधिक लहलहा उठता।

संन्ध्या के चार बज रहे थे। सतीश अपने बाहर के कमरे में बैठ कर कुछ सोच रहा था। क्या सोच रहा था, कह नहीं सकते, पर कदाचित् उसके विचारों के गगन पर सुधा और कैलाश हो, कदाचित् वह दोनों की तस्वीर अपने विचारों के गगन पर आँक कर भीतर ही भीतर पीड़ा की आग में जल रहा हो। सहसा किसी की कंठ-ध्वनि से उसकी विचार-तंद्रा टूट गई, और वह द्वार की ओर निहार उठा। उसने देखा, उसके पिता महेश चरण थे, जो नौकर को पुकारते हुये कमरे मे चले आ रहे थे।

सतीश कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया; और वह कमरे से बाहर जाने लगा, पर उसके पिता महेश चरण उसे रोक कर बोल उठे—बैठो, सतीश, तुमसे कुछ बातें करनी है।

सतीश सिर नत कर कुर्सी पर बैठ गया। न जाने क्यों, इधर सतीश अपने पिता से बच कर रहने का प्रयत्न करता था। वह उनके सामने बहुत कम जाता, और जब जाता, तब इस बात का प्रयत्न करता, कि वे उसके उस हृदय को न देख सकें, जो रेगिस्तान की भाँति अभाव की आग में सोया हुआ है। पर कदाचित् सतीश को यह ज्ञात नही, कि माता, पिता की आँखें वे आँखें नही, जो पुत्र, पत्नी, और भाई बहन की तरह शरीर के भीतर अपना स्वार्थ ढूँढती है। सतीश के इस प्रयत्न पर भी वह अपने पिता महेश चरण की आँखों मे ही

था; और वे मन ही मन सतीश के इस नवीन परिवर्तन पर आकुल हो रहे थे। सयाना लड़का; कुछ कह तो सकते नहीं थे, पर कहने के लिये उपाय अवश्य सोच रहे थे। आखिर उस दिन एकान्त में अवसर पाकर कह ही उठे, सतीश, गर्मी के दिन है। तुम दो एक महीने के लिये पहाड़ हो आवो।

सतीश ने आश्चर्य चकित होकर अपने पिता की तरफ़ देखा। उसकी आखें! महेश चरण कॉप उठे। आखों के नीचे श्यामता और पुतलियों में पीतवर्ण! साफ-साफ ज्ञात हो रहा था, कि उसकी रक्त की पिचकारी या तो टूट गई है, और या उसका मार्ग अवरुद्ध हो उठा है। महेशचरण फिर तुरन्त बोल उठे—हॉ सतीश, तुम एक महीने के लिये पहाड़ चले जाओ। मै आज ही अपने एक मित्र को पत्र लिखे दे रहा हूँ। वे वहॉ तुम्हारे आराम का सब प्रबन्ध कर देगे!

महेशचरण अपनी बात समाप्त करते करते कुर्सी से उठकर बाहर चले गये, और सतीश! सतीश महेशचरण की बातको लेकर विचारों के प्रवाह में बहने लगा—"पहाड़! तो क्या पहाड़ चला जाऊँ, पर मनमें जो आग जली है, उसे पहाड़ क्या सैकड़ों हिमालय भी उसे अपने वर्फ से शान्त नही कर सकता। बेचारे पिताजी! उन्हे क्या मालूम, कि मेरे शरीर के भीतर जिन कीटाणुओ का सञ्चरण हो रहा है, उनपर पहाड़ की स्वास्थ्यवर्द्धक वायु का लेशमात्र भी प्रभाव नही पड सकता; पर तो भी क्या पहाड़ चला जाऊँ! सुधा से दूर, बहुत दूर? नही, मै पहाड़ पर न जाऊँगा! यहीं रहकर अपनी ऑखों से सुधा के कूटचक्रों को देखूँगा, और देख देखकर उससे दूर जाने का प्रयत्न करूँगा! उसे त्याग दूँगा, अपने जीवन सम्बन्ध को उससे तोड लूंगा! वह दर-दर रोयेगी; अञ्चल पसार-पसार कर लोगों से करुणा की भीख मॉगेगी! सुधा, अविश्वास के सॉचे मे ढली हुई सुधा ?

सुधा की भोली आकृति सतीश के हृदय मुकुर में झलक उठी।

गौर वर्ण, सुन्दर बड़ी बडी रसवती आँखे और आकृति पर आकर्षण की झलक! सतीश मुग्ध हो उठा। उसके अन्तर का जो प्यार, ईर्षा के कारण सो गया था, कुछ देर के लिये पुनः जागृत हो उठा। सतीश अपने कमरे से उठा और सुधा के पास जा पहुँचा।

सुधा चटाई पर बैठ कर दाल साफ कर रही थी। सतीश उसके पास जाकर एक ओर चटाई पर बैठ गया। सुधा ने सतीश की ओर देखा। सुधा की आँखो में उन्माद और आकर्षण का प्रवाह छलक रहा था। सतीश के अंतर मे सोया हुआ प्यार उन्माद के उस प्रवाह से तर हो उठा, और यदि सतीश के हृदय में सन्देह की आग की उष्णता न होती तो इसमें सन्देह नही कि सतीश सुधा को अपनी ; पर फिर भी उत्कंठा से अपनी वाणी को प्रणय के स्वर में डुबो कर सतीश बोल उठा—सुधा, एक बात कहूँ!

सुधा कुछ न बोली। वह केवल सतीश की ओर देख कर रह गई सतीश कुछ देर तक उत्कंठित नेत्रों से उसकी सरस आँखों की ओर देखता रहा। जब सुधा कुछ देर के पश्चात् भी मौन ही रहा; तब फिर सतीश के मुँह से अपने आप निकल ही पडा–सुधा, मै पहाड़ जा रहा हूँ!

यद्यपि सतीश पहाड़ जाने के लिये सुधा से सम्मति लेने नही आया था, यह बात तो सहसा उसके मुख से अपने आप निकल पड़ी, और जब निकल पडी, तब वह प्रमुख चक्र बन कर जीवन को चक्रित करने वाली बन गई। सतीश उत्कण्ठा से सुधा की ओर देख रहा था। उसके प्रत्येक ज्ञान-छिद्रों से चेतना कुछ सुनने के लिए झाँक रही थी। पर सतीश को निराशा ही हुई। सुधा कुछ देर तक चुप रही; फिर मन्द स्वर में कह उठी, जैसी आप की इच्छा!

सतीश के हृदय पर जैसे तुहिन की एक कर्कश आँधी सी लोट गई हो, जैसे कोई भयानक हूक उठ पडी हो, और वह उठ कर

उसके अन्तस्तल को भेदती हुई उस पार निकल गई हो। सुधा की भोली आकृति के मधुर आकर्षण ने सतीश के हृदय में प्रणय का जो क्षीण प्रवाह उठा दिया था, वह अपने स्थान में ही सूख गया; और सतीश का हृदय पुनः रेगिस्तान सा तप्त हो उठा। ईर्षा और विरोध के चर्खे पर एक साथ ही उसका मन नाच पड़ा; और वह मनही मन सोच उठा, वह अब अवश्य पहाड़ जायेगा; अवश्य !!

पर सतीश ने अपने मन को अनियंत्रित न होने दिया। ईर्षा और विरोध जो भीतर ही भीतर उसके छलक रहा था; वह जोर से उबल कर भी बाहर न आ सका। सतीश बल पूर्वक उसे अपने भीतर ही रोक कर बोल उठा—मैं तो पहाड़ जा रहा हूँ सुधा, किन्तु तुम ·····।

सुधा ने सतीश की ओर देखा। सुधा की रसवती आँखों में कुछ उदासीनता सी दृष्टिगोचर हुई। उससे सतीश के मनको एक हलकी सी ठेस लगी, और उसके नेत्रों में करुणा के क्षीण घन-खंड झलक उठे; पर सुधा जब इस बार भी मौन ही रही; तब वे ईर्षा की वायु के झोंके से उड़कर तत्क्षण ही विलीन हो गये; सतीश चतुराई से सुधा के हृदय को वेधने के उद्देश्य से बोल उठा—और तुम अपने पीहर चली जाना सुधा ! पत्र लिख कर किसी को बुला लेना; पिता जी तुम्हें भेज देंगे।

बात साधारण सी थी, और सतीश ने इस बात का भरसक प्रयत्न भी किया, कि उसके कथन का ढंग भी साधारण ही रहे, पर सतीश के हृदय में जो भयानक द्वन्द उठ खड़ा हुआ था, वह उसकी बाणी में आ ही गया, और सुधा विस्मित हो कर सतीश की ओर देख उठी, और साथही उसके मुख से निकल पड़ा, 'यह सब बनावटी बातें है। भेजने का नाम तो कोई लेता नहीं, और कहा यह जाता है कि पत्र लिख कर किसी को बुला लो। माता जी के कई पत्र आ चुके, कोई सुनता भी है।'

सतीश का अन्तस्तल जैसे मथ .उठा, जैसे किसी वेदना ने उठकर उसके अन्तर के कोने-कोने को कँपा दिया हो, और स्पष्टतः उसकी प्रतिच्छाया सतीश के नेत्रों और उसकी आकृति पर दृष्टिगोचर होने लगी। एक बार सतीश के मन में आया, कि वह सुधा से कह दे कि और कैलाश के भी तो कई पत्र आ चुके, पर बात सतीश के अधरों पर ही आकर रुक गई, और सतीश पुनः अपने अन्तर के भावों को भीतर ही भीतर दबाता हुआ बोल उठा—भूल हुई सुधा ! मै जानता न था, कि पीहर के प्रति तुम्हारा इतना मोह है। मै पहाड़ जा रहा हूँ, अब तुम चली जाना।

सतीश ने किसी तरह अपनी बात समाप्त तो की, पर बात समाप्त करते-करते जैसे उसका कंठ भी विजड़ित हो उठा; और ऐसा लगा जैसे वाणी के साथ किसी वस्तु ने भीतर से निकल कर उसके कंठ को जकड़ लिया हो। सुधा नेत्रा में विस्मय भर कर सतीश की ओर निहार उठी, पर सतीश उसके पूर्व हा चटाई से उठकर अग्राभिमुख चल चुक था। सुधा उसकी उस आकृति को न देख सकी, जिस पर उपेक्षित हृदय का विषाद बरस रहा था; और यदि देख भी सकती तो इसमें संशय था, कि वह उसे पहचान भी सकती।

पर फिर भी न जाने क्या सोच कर सुधा उठी; और मन्द-मन्द गति से चलकर सतीश के कमरे मे जा पहुँची। सतीश पहाड़ जाने के लिए अपना सामान ठीक कर रहा था। सुधा कमरे की ड्योढी पर खड़ी होकर बोल उठी—तो क्या आप सचमुच पहाड़ जा रहे है !

हॉ सुधा, आज ही रात मे !—सतीश की वाणी कॉप रही थी और सुधा के इस प्रश्न से, जिसमे कुछ सहानुभूति सी लिपटी हुई थी, सतीश की अन्तर्वेदना छलक कर उसकी ऑखों मे नाच उठी ! यदि सतीश सुधा की ओर देखता तो निश्चय सुधा उसकी भरी हुई ऑखों को देख लेती, पर सतीश ने उसकी ओर दृष्टिपात किया ही

नहीं ! वह अपना सामान ठीक करता हुआ कुछ देर तक भीतर ही भीतर अपने मनोवेगों से दृढतापूर्वक लड़ा और जब उसे विश्वास हो गया, कि उसका कंठ कुछ मुक्त हो उठा है, तब वह अपने सामान को ठीक करता हुआ बोल उठा—मै जा रहा हूँ सुधा ! अकेले यहाँ तुम्हारी तबियत न लगेगी ! तुम पीहर अवश्य चली जाना !

मै जाऊँगी या नहीं, आप तो जा ही रहे है—सुधा बोल उठी; और मुड़कर घर के भीतर की ओर चली गई।

यद्यपि सुधा की वाणी में कुछ पीड़ा का भाव था, पर सतीश के हृदय में जो विपरीतता का अंधड़ चल रहा था, उसमें सुधा का पीडित और मार्मिक स्वर विलीन हो उठा, और सतीश ने उसे अपने हृदय के ही स्वर में सुना। सतीश की ईर्षा और उत्तप्त हो उठी, और वह इतनी शीघ्रता के साथ घरके बाहर हो गया, कि स्वयं उसके पिता को भी विस्मित हो जाना पड़ा, और उन्होंने इसका कारण अपने मनमे ढूँढा, और अपने घर के भीतर भी। सन्देह है कि वे वास्तविक कारण जान पाये हों, या कभी भी जान पायें !!

[३]

पहाड़ की सन्ध्या के भाल पर चन्द्रमा हँस रहा था। यद्यपि अभी चन्द्रिका जन्म ही ले रही थी, पर पहाड़ एक धूमिल रजत-सा ज्ञात हो रहा था। यौवन की भाँति उठती हुई उस चन्द्रिका में मन्द-मन्द सुशीतल वायु! सतीश ने अपने कमरे की खिड़की से झाँककर देखा—दृश्य उसे बडा हृदयभेदक जान पड़ा, और वह हाथ में छड़ी लेकर बाहर निकल पड़ा।

खिल कर उठती हुई चन्द्रिका, मन्द-मन्द सुशीतल पवन और यत्र-तत्र स्त्री-पुरुषों के सुमधुर भव्य जोड़े! सतीश के हृदय में एक हल्की पीड़ा उठ पड़ी और उसके हृदय के भीतर से कोई झाँक पड़ा। वह निश्चय सुधा थी। सतीश जब प्रारम्भ में पहाड़ पर आया,

कई दिन तक ईर्ष्या की आग ने वहाँ भी उसे शान्ति से रहने न दिया। पर धीरे-धीरे नये स्थान और परिस्थिति ने उसपर प्रभाव डाला और उसके हृदय में जो रेगिस्तान तप रहा था, वह विश्व की क्षणिक शीतलता को पाकर खो-सा गया, पर फिर भी कभी-कभी अवसर और स्थिति की अनुकूलता के रूप में सुधा उसके हृदय के भीतर झाँक ही पड़ती थी, और जब सुधा झाँक उठती तब फिर पूर्ण घटना का एक चित्र उसकी आँखों के सामने अंकित हो जाता, और उसके हृदय का सुप्त रेगिस्तान पुन: चूल्हेपर चढ़े हुए तवे की भाँति उत्तप्त हो उठता।

आज भी जब सुधा उसके हृदय के भीतर झाँक उठी, तब उसकी आँखों के सामने कैलाश का चित्र भी अंकित हो गया और फिर उसके हृदय के भीतर अभिभूतता की एक ऐसी आँधी उठी, कि उसके गर्द से बाहर की वह चन्द्रिका भी मलिन दृष्टिगोचर होने लगी। घर से निकलने पर सतीश के हृदय मे जो उमंग की लहर उठ पड़ी थी, वह कुछ दूर चलकर के ही सूख गई, और सतीश एक गिरे हुए उदास मन का आश्रय लेकर यह सोचने लगा, कि चलो, घर लौट चले।

सतीश अभी यह सोच ही रहा था, कि कोई पार्श्व की पगदंडी से बोल उठा—जीजा जी!

सतीश ने चकित होकर दूसरी ओर देखा,—दो वय प्राप्त स्त्री-पुरुष, एक युवती और दो युवक! सतीश अभी उस ओर देख ही रहा था, कि उनमें से एक युवक ने उसके अधिक समीप पहुँचकर कहा—नमस्ते जीजा जी!

ओ, हो! सुशील तुम!—सतीश विस्मय के साथ बोल उठा—कब आये यहाँ तुम!

मुझे तो लगभग पन्द्रह दिन हो गये—युवक ने उत्तर के रूप में कहा।

अबतक वे दोनों वय प्राप्त स्त्री-पुरुष, युवती और वह दूसरा युवक भी सतीश के पास पहुँच चुका था। सतीश ने वय प्राप्त स्त्री-पुरुष को आदर से अभिवादन किया, और युवती को एक तिरछी दृष्टि से देखा, किन्तु युवती को देखने के पश्चात् जब उसकी दृष्टि दूसरे युवकपर पड़ी, तब न जाने क्यों सतीश का हृदय धक्-धक् करने लगा। थोड़ी ही देर में उसकी आँखों के सामने कई चित्र बने और मिट भी गये। सतीश को ऐसा ज्ञात होने लगा, मानों उसके हृदय के भीतर आकुलता का जन्म हो रहा है, पर वय प्राप्त पुरुष ने बहुत शीघ्र ही, थोड़ी देर के लिए ही सही, उस आकुलता से उसे बचा लिया। वह सतीश की ओर देखकर बोल उठा—मुझे यहाँ आये हुये पन्द्रह दिन हो गये बेटा, और तुम मिलेतक नही! मै स्वयं कई बार तुम्हारे घर गया, सुशील और कैलाश को भी भेजा, पर तुम न मिले!

सतीश ने वय प्राप्त पुरुष की पूरी बात सुनी, पर उसकी सारी चेतना "कैलाश" पर ही आकर रुक गई। वह पुरुष की बात सुनकर अपने भीतर उत्तर देने की तैयारी कर रहा था, किन्तु जब उसने सुशील के साथ कैलाश का भी नाम सुना, तब उसका अन्तस्तल झनझना उठा, और उसे ऐसा लगा, जैसे उसके हृदय-विपंची के सभी तार जोर से झनझनाकर फिर सदा के लिए बन्द हो जाना चाहते है। सतीश ने बलपूर्वक अपनी हृदय-वीणा के तारों की झनझनाहट को रोका, किन्तु अभिभूतता उसकी आकृतिपर टपक ही पड़ी। वय प्राप्त पुरुष ने उसे देखा अवश्य, किन्तु उसकी ओर ध्यान न दिया, या यह कहना चाहिये कि उसकी ओर ध्यान देने का उसे अवसर ही नही प्राप्त हुआ। बीच में ही वय प्राप्त स्त्री स्नेहपूर्वक बोल

उठी—नहीं मिले, तो क्या हुआ ? अब आज तो मिले हैं। सुशील, तुम इन्हें घर ले चलो !

नहीं माता जी, आज मैं न जा सकूँगा।—सतीश अपने हृदय के भावों को दबाकर तत्क्षण बोल उठा—मेरे घर कुछ मित्र आये होंगे, और वे मेरी प्रतीक्षा में होंगे।

सतीश ने बात पूरी करते-करते अपने दोनों हाथ जोड़ दिये। सुशील बोल उठा—अरे, इतनी जल्दी !

हाँ सुशील, मुझे शीघ्र जाना है।—सतीश ने एक दृष्टि से युवक और युवती को देखकर उत्तर दिया और वह चल पड़ा।

वय प्राप्त स्त्री-पुरुष सतीश के सास ससुर थे। युवती उसकी स्त्री सुधा, और सुशील उसका भाई। कैलाश, उसके भाग्य-गगन का वही मंगल या अमंगल नक्षत्र, जिसके कारण उसके जीवन में भयानक आँधी उठ खड़ी हुई थी। सतीश के इस अप्रत्याशित और अकल्पित व्यवहार से उसके सास-ससुर को अधिक विस्मय हुआ, और साथ ही दोनों के मन के भीतर एक झंझावात-सा उठ खड़ा हो गया। सुशील और कैलाश के मन के भीतर भी विस्मय की आँधी डोल गई और स्वयं सुधा का मन भी शुष्क पत्र की भाँति हिल उठा, पर इन सबसे अधिक उफान सतीश के हृदय में था। उसके अन्तर के कोने-कोने में ऐसा बवण्डर उठ रहा था, कि वह अपने को विस्मृत हो गया था। वह उसी विस्मृति में तीव्र गति से चलकर अपने घर पहुँचा, और जल्दी-जल्दी अपना सारा सामान सिमेटने लगा। कुछ को लिया, और कुछ को छोड़ दिया। नौकर ने जब अधिक विस्मित होकर उसका कारण पूछा, तब उसे डाँट दिया, और कहा, लो अपनी तनख्वाह और जाओ तुम्हें छुट्टी।

सतीश ने रात में ही अपना सामान सिमेटकर शीघ्र घर खाली

कर दिया, और फिर उस पूर्णिमा की चन्द्रिका में वह ऐसा खो गया, कि आजतक भी कहीं उसका पता न लग सका।

आज भी उसके कुटुम्बियों और उसके प्रिय जनों के हृदय में यह प्रश्न रह-रहकर खनक उठता है, कि सतीश कहाँ चला गया, और क्यों चला गया ? सुधा के मन के भीतर भी यही प्रश्न उठता है, किन्तु प्रश्न के साथ ही साथ उसके हृदय में कुछ संभावनाएँ भी झलक पड़ती है ! उन संभावनाओं से सुधा काँप उठती है, और पाश्चात्ताप के रूप में दो बूँद आँसू गिराकर मन ही मन कह उठती है—"यदि वे मिल जाते तो ·····।"

—:⁂:—

मृत्यु के पथ पर भी

सन्ध्या बरस रही थी। एक धूमिल अन्धकार धीरे-धीरे जगतको ढँकता जा रहा था। पशु, पक्षी, मनुष्य, सभी रजनी के आगमन से भयभीत होकर अपनी अपनी रक्षा के लिये सुप्रबन्ध कर रहे थे। थके माँदे पक्षी बसेरा ले रहे थे, पशु विश्राम खोज रहे थे, और मनुष्य ? मनुष्य अन्धकार में अन्धकार से बचने के लिये अपने अपने घरों में दीपक जला रहे थे, पर वह मनुष्य होते हुए भी रजनी के प्रभाव से मुक्त-सी थी। उसके लिये जैसे रजनी का आगमन हुआ ही न हो! वह चुप चाप आँगन मे बैठी हुई थी। घर में अन्धकार, किन्तु फिर भी न जाने क्यों, वह दीपक नहीं जला रही थी। चिन्ता में मग्न थी, कभी कभी गहरी निश्वास लेती, और उठकर द्वार तक जाती; किन्तु फिर शीघ्र ही लौट कर आँगन के मध्य मे बैठ जाती। कभी कभी सिर ऊपर उठा कर, पास ही पड़ी हुई टूटी चारपाई पर, आँखे फेक देती। चारपाई पर फटे-पुराने बिछौने के ऊपर एक दुबला पतला बच्चा निश्चिन्तता की नीद सो रहा था। बच्चे को देखते ही उसकी भौवे सजल हो उठती। वह कुछ देर तक भावो के समुद्र में डूबती उतराती। कभी कातर बन जाती तो कभी सकरुण , कभी निराश हो जाती तो कभी आहत। वह भावों की साक्षात् प्रतिमा-सी बनी हुई थी , पर उस प्रतिमा का देखने वाला वहाँ था ही कौन ? आहत, निराश और करुणा की अवस्था मे भी अन्धकार उसे दबोचता जा रहा था।

वह करुणा थी। वास्तव मे उसका नाम करुणा था भी। करुणा उसकी रग-रग से टपक रही थी। ज्यों ज्यो अन्धकार बढता जा रहा था, त्यो त्यो उसके हृदय की करुणा भी अधिक समाकुल होती जा रही थी, मानो वह किसी के लिए तड़प रही थी। सचमुच वह किसीके

लिए तड़प रही थी। उसके पति अरुण सवेरे काम की खोज मे घर से निकले थे, और अभी तक लौट कर न आये थे— उन्ही के लिए करुणा की चिन्ता थी, और उन्ही के लिए वह आहत होकर करुणा की मूर्ति बनती जा रही थी। उसकी ऑखे उन्ही को खोज रही थी, और उन्ही को देखने के लिए वह अपनी उद्विग्न ऑखों को लेकर द्वार तक जाती, किन्तु जब न देख पाती, तब फिर लौट आती थी, और चिन्ता की झाड़ियों मे मन ही मन सरपट लगाने लगती थी।

उसका हृदय रह-रह कर पत्ते की भॉति कॉप उठता था। कॉप उठता था, इसलिये कि उसकी ऑखों के सामने आशंका एक चित्र लेकर रह-रह खड़ी हो जाती थी। करुणा उस चित्र को देखती थी, और उसी को देख-देख कर विक्षिप्ता-सी बनती जा रही थी। पाठक. आप भी करुणा की आशंका के उस चित्र को देखे, और करुणा की स्थिति का कुछ अनुभव करे—

प्रभात का समय है, सूर्य की किरणे संपूर्ण जगत को खोद-खोद कर जगा रही है। सूखी हड्डियो वाले अरुण ने चारपाई पर बैठ कर करुणा की ओर देखा। करुणा पास ही एक दूसरी चारपाई पर सोई हुई है। उसका सौन्दर्य्य उजड़ गया है और पड़ गया है उसका मुखा-कर्षण अधिक धूमिल। सूखे और रिक्त स्तनों को मुँह में डालकर बच्चा धीरे-धीरे उसे चिंचोर रहा है। अरुण की ऑखे सजल हो उठी। वह उन्ही ऑखों से एक टक करुणा की ओर देखने लगा। कबतक देखता रहा, कौन जाने, पर सहसा करुणा ने जग कर उसकी ऑखों की साधना भंग कर दी। उसने अरुण की ओर देखकर विस्मय के साथ कहा—है यह क्या ? आप सवेरे-सवेरे रो रहे है !

अरुण चुप रहा। उसकी ऑखे भावों के भार से नीचे झुक गईं। ऐसा जान पड़ा, मानों वह चिन्ता के अनन्त पथ का पथिक हो।

करुणा ने कुछ न कहने पर भी, अरुण की चिन्ता की तसवीर अपने हृदय पर उतार ली। उसके अधर सान्त्वना के स्वर में खुलने के लिये आकुल हो उठे किन्तु अरुण की वेदना ने उन्हें खुलने न दिया करुणा कुछ कहने की इच्छा होने पर भी कुछ कह न सकी। उसका गला रुँध गया। आँखें सजल हो उठीं। आँसू टप-टप नीचे गिरने लगे। अरुण ने जब उसकी ओर देखा, तब उसकी सारी चिन्ता और वेदना दूर होगई। करुणा के आँसुओं ने जैसे उसके हृदय में पुरुषार्थकी ज्योति जगा दी, जैसे उसके वेदना व्यथित हृदय ने अपमान का कुछ अनुभव किया हो। वह अपने रुमाल से करुणा की आँखो को पोंछते हुए बोल उठा—घबड़ाओ न करुणा, आज मैं जाता हूँ, और नौकरी खोज करके ही घर लौटूँगा।" करुणा काँप उठी। उसने भीगी आँखो से अरुण की ओर देखा, अरुण की आकृति पर दृढ निश्चय के भाव झलक रहे थे। करुणा मनही मन सोचने लगी, और बड़ी देर तक सोचती रही। "आज मै नौकरी खोज करके ही घर लौटूँगा" अरुण के ये शब्द रह रह कर उसके हृदय में बवण्डर पैदा कर रहे थे। वह उसी बवण्डर मे उड़ती रही, किन्तु कह कुछ न सकी। अरुण कुछ खा-पीकर, नौकरी की खोज में शहर चला गया। वह सड़कपर चल रहा है। दूकानों और कारखानों के द्वार खटखटाता है। पर सर्वत्र उत्तर मिलता है, 'आवश्यकता नही।' दिन समाप्त हो गया है। सूर्यास्त के साथ ही साथ अरुण की आशाएँ भी समाप्त हो गई है। वह एक वृक्ष केनीचे, अन्धकार में चुपचाप बैठा है। हृदय आहत है, और मन समाकुल! सारा संसार काँटों की झाडी सा ज्ञात हो रहा है। निराशा ने हृदय को चूर-चूर कर दिया है, किसीका स्वर जब कानों में पड़ता है, तब ऐसा ज्ञात होता है, मानो हृदयपर शस्त्राघात हो रहा है। वह शीघ्र से शीघ्र संसार से भागकर कहीं और चला जाना चाहता है। वह उठकर धीरे-धीरे चलता है, और गंगा के तटपर पहुँच जाता है।

एक जोर का शब्द और बस" " "' ' ।" करुणा आशंका के इस चित्र को देखकर सहसा चीख-सी उठी। उसकी चीख उस एकान्त में भिखारिणी की प्रार्थना की भाँति गूँजकर रह गई। बच्चा कुछ सगबगाया, और फिर सो गया। करुणा ने बच्चे की ओर देखकर अपने को कुछ सँभाला। अभी कुछ ही क्षण बीत पाये थे, कि द्वार की जंजीर खटखटा उठी। करुणा की रगों में जैसे बिजली-सी दौड़ पड़ी हो। वह दौड़कर द्वारतक गई, और द्वार खोलते हुये पूछ उठी—'कौन ?'

उत्तर मिला—मै

स्वर अरुण का था। करुणा विक्षिप्ता की भाँति अरुण के शरीर से लिपट गई। उसकी आँखों से आँसुओं की धारा-सी बरस पड़ी। अरुण ने करुणा को अपने हाथों पर सँभालते हुये कहा—पगली, रोती क्यों है ? भगवान ने हम दोनों की सुन ली। चलो घर में दीपक तो जलाओ।

करुणा की सारी वेदना पलमात्र में ही उड़ गई। वह जैसे प्रसन्नता के महायान पर सवार हो गई। आंखों के आंसू अपने स्थानपर ही सूख गये। वह लपककर घर के भीतर गई और दीपक जला लाई। उसने दीपक के प्रकाश में अरुण की आकृति को देखा। वह प्रसन्न था। उसकी आँखों से हँसी-सी फूट रही थी। हाथ में एक पोटली-सी थी। करुणा प्रसन्नता से आँखों को नचाकर बोल उठी—सच ! क्या नौकरी मिल गई ?

हाँ सच।—अरुण ने उत्तर दिया—करुणा, अब हम लोग सदा के लिए चिन्ता से मुक्त हो जायँगे ! आज मै बहुत प्रसन्न हूँ करुणा ! सच कहता हूँ, आज की-सी प्रसन्नता इसके पूर्व मुझे कभी नही हुई थी। देखो, इसी प्रसन्नता में खाने के लिए बाजार से पूरियाँ और कचौड़ियां लाया हूँ।

करुणा ने पोटली की ओर हाथ बढाया। किन्तु अरुण ने उसे पीठ की ओर खीचते हुये कहा—अभी नही करुणा, बहुत दिनों के पश्चात आज यह अवसर प्राप्त हुआ है। आज हम दोनो का जीवन चिन्ता-मुक्त हुआ है। आज का दिन कितना सुन्दर है, कितना हर्षमय है !।

करुणा हँस पड़ी। उसकी आँखे फिर पोटली की ओर गईं। अरुण पुनः बोल उठा—घबड़ाओ न करुणा ! इन पूरियों और कचौड़ियों को मै अकेला ही नही खाऊँगा, तुम्हें भी खिलाऊँगा ! किन्तु आज तुम्हें मेरी एक बात माननी पड़ेगी करुणा ! कहो, 'हाँ।'

करुणा हँसती हुई आँखों से अरुण की ओर देखने लगी, मानो मौन रूप में उसकी आँखे 'हां' कह रही हों, और 'हाँ।'

अरुण बोल उठा—तुम जानती हो करुणा, पुरुष अपनी पत्नी को हँसती हुई देखना चाहता है। मै भी आज चाहता हूँ करुणा, कि तुम हँसो, और हँसो शृंगार की रानी बनकर। जाओ करुणा, अपना शृङ्गार कर आओ। आज हम दोनों के जीवन का महान् दिन है। आओ, आज हम दोनों प्रेम, निश्चिन्तता, और हर्ष के साथ सोये करुणा !

करुणा कुछ झिझकी, कुछ विस्मय में पड़ी। किन्तु अरुण का आग्रह ! वह एक दूसरा दीप जलाकर शृङ्गार करने चली ही गई। जब वह शृङ्गार करके लौटी, तब लुटी हुई अप्सरा-सी ज्ञात हो रही थी। अरुण ने बड़े प्यार से उसे अपने पास बिठाला। वह उसकी छबि देखता जाता था, और उसे अपने हाथ से खाना खिलाता जाता था। खाना समाप्त हो जाने पर अरुण ने जी भरकर करुणा को देखा ! तत्पश्चात् वह बोल उठा—करुणा इस शुभ और हर्ष दिवस के उपलक्ष्य में तुम्हें कुछ उपहार भी चाहिये न !

करुणा अरुण की ओर देखने लगी। अरुण ने जेब से दो छोटी-

छोटी शीशियाँ निकाल कर करुणा के सामने रख दी; करुणा ने प्रसन्नता से एक शीशी उठा कर देखा। उस पर लिखा था, 'ज़हर'।

स्थिति का वास्तविक चित्र करुणा के सामने नाच उठा। उसकी सारी प्रसन्नता गंभीरता और उदासीनता के रूप में बदल गई। आँखे सजल हो उठी। अरुण करुणा की ओर बड़े ध्यान से देख रहा था। करुणा चुप थी। अरुण भी चुप था। कुछ देर के पश्चात् अरुण बोल उठा—अब इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं करुणा!

करुणा ने सजल नेत्रों से सुप्त बच्चे की ओर देखा। बच्चा निश्चिन्तता के साथ सो रहा था। अरुण पुनः बोल उठा—तुम उसकी चिन्ता न करो करुणा! तुम इसे उसके सहारे छोड़ दो, जो अन्धकार में भी ज्योतिका पुंज बनकर बैठा रहता है।

अरुण हाथ में शीशी लेकर उठ खड़ा हो गया, करुणा ने भी सजल आँखों से बच्चे की ओर देखते हुये उसी का अनुगमन किया। दोनों अपनी अपनी शीशी का काग खोल कर उसे अपने मुँह से लगाने ही वाले थे, कि बच्चे ने जग कर बड़ी ही ममता के साथ कहा—'माँ' बाबू!

अधर से लगी हुई दोनों की शीशियाँ भूमि पर गिर पड़ी! कौन कह सकता है, कि बच्चे के उस स्वर में क्या था?

भीतर की आग

गर्मी के दिन थे। सन्ध्या के पाँच बज रहे थे। किशोर लाल लाल फीतों में बँधी हुई फाइलें हाथ में लेकर जब घर लौटा, तब उसने दृष्टि के एक झलक मे देखा, उसकी पत्नी अंजना हाथ में कोई पुस्तक लेकर पढ रही है। किशोर अपने कमरे मे चला गया। फाइलें मेज पर रख दीं, और कपड़े उतार कर खूँटी पर टाँग दिये। वह पलँग पर लेट गया। थका-माँदा था, और प्यास भी उसके भीतर कचोट उत्पन्न कर रही थी। अंजना की उसे प्रतीक्षा थी। वह सोचता था, अजना आ रही होगी, और उसे जलपान करने के लिये कहेगी; पर अंजना न आई। किशोर के हृदय मे एक व्यथा-सी उठी, और वह भीतर ही भीतर एक बवण्डर की भाँति डोल गई। किशोर कुछ क्षणों तक उस व्यथा से दबा हुआ चुप चाप पड़ा रहा, फिर अपने ही आप उठा, और हाथ-मुँह धोकर पलँग पर जाकर लेट गया। पलँग पर लेटने के साथ ही अंजना की एक नवीन प्रतीक्षा पुनः उसके हृदय में जागृत हो उठी, और वह विभ्रान्ति तथा तृषा की अवस्था में आकुलता से उसकी राह देखने लगा, पर अंजना फिर भी दृष्टिगोचर न हुई। व्यथा ने अब खींझ का रूप धारण कर लिया। किशोर कुछ तीव्र स्वर मे मे लेटे ही लेटे बोल पड़ा—अरे पढती ही रहोगी, या कुछ जलपान भी दोगी?

अंजना ने कुछ उत्तर न दिया, मानों किशोर के स्वर उसके श्रवणो तक पहुँचे ही न हों; या पहुँचे भी हों तो उसकी तन्मयता के समुद्र में बूँद की तरह समाविष्ट होकर अस्तित्त्व-हीन हो गये हों! किशोर के हृदय में खीझ मिश्रित पीड़ा की एक आँधी पुनः भीतर ही भीतर डोल

गई, और वह कुछ देर तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् पुनः तीव्र स्वर में बोल उठा—मैंने कहा, सुनाई नहीं पड़ा। कुछ जलपान वगैरह मिलेगा या नहीं ?

सुन तो रही हूँ!—अंजना आँखों के सामने से पुस्तक के पन्ने हटाती हुई बोल उठी—पर जलपान क्या मैं बन जाऊँ? घर में कुछ है नहीं, और नौकर कब से न जाने कहाँ गायब है ?

किशोर के हृदय को एक कर्कश आघात-सा लगा, और उसके हृदय का कोना-कोना उस आघात से झन-झना-सा उठा। वह हृदय की उस झनझनाहट में अपने को भूल गया। प्यास और भूख ने मिल कर उसकी विस्मृति को पर लगा दिये और वह कुछ कर्कश स्वर में बोल उठा—यह क्यों नहीं कहती, कि पुस्तक पढ़ने से अवकाश ही नहीं मिलता!

यही समझ लीजिये!—अंजना ने कुछ गम्भीर और उपेक्षा के स्वर में कहा।

जैसे प्रज्वलित अग्नि में किसी ने घृत की बूँदे डाल दी हों ! किशोर के हृदय में व्यथा मिश्रित खीझ की जो गर्मी उत्पन्न हो उठी थी, अंजना की वाणी ने उसमें चिनगारियाँ उत्पन्न कर दी! किशोर तीव्र स्वर में बोल उठा—पर यह नहीं चल सकता। पहले गृहस्थी, और फिर उसके पश्चात् पुस्तक!

किन्तु यह तो ऐसे ही चलेगा!—अंजना ने भी किशोर के ही स्वर में उत्तर दिया!

"किन्तु यह तो ऐसे ही चलेगा!" किशोर के हृदय के एक कोने में एक झंझावात उठा, और उठकर सारे हृदय में डोल गया। किशोर अपने संपूर्ण अस्तित्त्व के साथ उस भीषण झंझावात में इस प्रकार उड़ने लगा, जैसे कोई शुष्क पत्र-खण्ड आँधी के झकोरों में इधर से उड़ा करता है। किशोर शुष्क पत्र खण्ड की ही भाँति काँपता हुआ

पलँग से उठा, और वेग से अंजना के समीप जा पहुँचा। उसने चाहा कि वह वेग के झँकोरे में ही अंजना के हाथ से पुस्तक छीन कर फेक दे, पर उसका हाथ पुस्तक तक पहुँचने के पूर्व ही अंजना के हाथ वहाँ प्रतिवाद के लिये कटिबद्ध थे। किशोर ने अंजना की ओर देखा, और अंजना ने भी किशोर की ओर। अंजना के हृदय पर किशोर की उस दृष्टि का क्या प्रभाव पडा; कुछ पडा या नही, कह नही सकते; पर किशोर ने अंजना की जब उस दृष्टि को देखा, तब वह कुछ देर तक उसकी ओर देखता रह गया। यद्यपि अंजना ने उसके दृष्टिपात से अपनी वह दृष्टि नीचे कर ली, पर फिर भी किशोर कुछ देर तक उसकी उस आकृति को विचित्र भाव-मुद्रा से देखता रहा, जिस पर उसकी आँखों की भाव-छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी।

किशोर के हाथ जो पुस्तक की ओर आगे बढ़े थे, अपने ही आप खिंच आये। किशोर विस्मित-चकित कुछ देर तक मूक-सा बन कर वही खडा रहा। जैसे उसका हृदय स्तब्ध सा हो गया हो, या उसके अतस्तल के वे छिद्र, जिनसे चेतना का स्वर, झंकृत होकर बाहर निकला करता है, अवरुद्ध हो उठे हों! किशोर विचारो की उसी स्तब्धता मे मुड़ा और फिर पलँग पर जाकर लेट गया।

और जब वह पलँग पर लेटा; तब जैसे उसके भीतर का कोई बाँध टूट पड़ा हो! किशोर विचारों के प्रवाह में बहने लगा—'यह अंजना मे नवीन परिवर्तन कैसा? वह अब क्यों मेरी उपेक्षा करती है! आज का इसका यह रूप! आखिर मैने क्या कहा था? उससे जलपान ही तो माँग रहा था! उसने जिस प्रकार मेरी बात का उत्तर दिया, क्या वैसा ही उत्तर एक पत्नी को अपने भूखे प्यासे पति को देना चाहिए। घर में जलपान के लिये कोई चीज नही थी, तो इसके

कहने का एक दूसरा ढंग भी हो सकता था; पर उसकी तो बात बात में उपेक्षा थी !"

"उसकी वह उपेक्षा ! यदि मैं अपने को सँभाल न लेता तो आज ......। पर अब उससे कुछ कहना ही ठीक नहीं। जब वह साधारण सी बात पर वाद-विवाद करने के लिये तैयार हो गई और इतना ही नहीं, जब वह उस बात पर भी तैयार हो गई तब उससे कुछ न कहना ही ठीक है, कौन जाने किस दिन वह फुफकार कर खड़ी हो जाय; और मैं भी अपने को सँभाल कर न रख सकूँ तो.... ....।"

किशोर का हृदय काँप उठा। उसके हृदय के भीतर से रह-रहकर दुःख और पश्चात्ताप की लहर उठ रही थी। उसका मन रह-रहकर बोल रहा था, कि उसने क्यों, क्यों अञ्जना को छेड़ा ? उसके आफिस से लौटने पर अञ्जना न उठी, न सही ! वह बाजार चला गया होता, और जलपान कर आता, पर अञ्जना को भी तो ऐसा न करना चाहिये था। उसका यह काम था, कि वह जलपान जुटाकर रखती। जलपान न भी सही, ठण्डे स्वर में बात का उत्तर तो दे सकती थी। पति और पत्नी का ऐसा जीवन ! किशोर का हृदय विषाद से मथ उठा। वह पलँग से उठा, और कुरता पहनकर फिर घर से बाहर चला गया।

बाहर भी उसके विषाद से मथित मन को शान्ति न मिली। वह जहाँ-जहाँ गया, एक चित्र उसकी आँखों के सामने नाच उठता था— 'पुस्तक पढ़ती हुई वह अञ्जना, और फिर वह अञ्जना, जो दृढता-पूर्वक उसका प्रतिवाद करने के लिए सन्नद्ध थी !' किशोर अन्धकार होते-होते पुनः घर लौट आया। उसने जब घर में प्रवेश किया, तव देखा बाहर की भाँति घर में भी अन्धकार था। किशोर ने उस अन्धकार में चूल्हे की तरफ झाँका ! वह अन्धकार में अपनी

मलिनता को छिपाये हुए, अपने या अपने मालिकों के हृदय पर आँसू बहा रहा था।

किशोर के हृदय पर पुनः एक घनतर विषाद लोट गया। पर उसमें गर्मी नहीं, हिम की भाँति ठण्डक थी। ऐसी ठण्डक थी, जो मानव के मन को ही नहीं, उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को भी ठण्डा कर देती है।

[२]

अञ्जना! हाँ, अञ्जना युवती थी, बी० ए० पास थी। अध्ययन उसे प्रिय था। पर सब से अधिक प्रिय थी, उसे अरुण की कविता। अरुण, हाँ वह एक कवि था, कला का प्राण। लोग समझते थे या नहीं, पर अञ्जना तो अवश्य समझती थी, कि कला उसकी कल्पना से 'कला' बन जाती है, और लग जाते है उसके अभिसार मे पङ्ख! अजना उसकी कल्पनापर निछावर थी। वह उसकी कल्पना के साथ-साथ बहती थी, और उसमें भूलकर अपने को भी भूल जाती थी।

अंजना ने अपने वैवाहिक जीवन में भी अरुण की कल्पना को लेकर प्रवेश किया। पीहर मे अंजना की जो अध्ययन प्रियता उसे प्रशंसा और इसके साथ ही साथ मधुर ताड़ना का पात्र बनाये हुये थी, वह अब सन्देह का एक प्रमुख कारण बन गई। अंजना ने जीवन के नये परिवर्तन पर ध्यान न दिया। जब वह आई, तब उसके पति किशोर के रोम रोम उत्कण्ठित हो उठे—अंजना से कुछ सुनने के लिये; और उससे कुछ पाने के लिये। पहले तो अंजना ने जैसे तैसे कुछ निबाहा, पर अरुण की कविता के प्रेम के साथ ही साथ, उसके हृदय मे अरुण के प्रति जो कल्पना जाग कर प्रगाढ़ बन गई थी, उसने उसकी आँखों के आगे से किशोर को हटा दिया; और जब आँखों के सामने से हटा दिया, तब किशोर उपेक्षित बन गया। ऐसा उपेक्षित, जैसे आकाश का कोई धूमिल नक्षत्र!

किशोर के भीतर की आग भड़की, और उसने चाहा, कि वह चारों ओर से उठकर उस जीवन को जलाकर भस्म कर दे, जिसमें उसका स्थान केवल एक क्षुद्र कण की भाँति है। पर गार्हस्थ्य जीवन! वह गार्हस्थ्य जीवन, जो मनुष्य के जीवन में उसका प्राण और उसकी आत्मा बनकर रहता है। किशोर के मन में ममता की एक बयार-सी डोल उठी, और उसने अपनी स्निग्धता से, उस आग को, जो भीतर ही भीतर उठने के लिए लपक रही थी, थपकी देकर सुला दिया। किशोर अपने मन में एक व्यथा का भार लेकर जीवन की सीढियों को पार करने लगा, पर अञ्जना ने इस ओर कुछ ध्यान न दिया। उसने किशोर के भीतर की आग को देखा, और यह भी देखा कि किशोर के भीतर की आग बाहर निकलने के लिए दृढ़ता-पूर्वक जोर मार रही है, पर उसने उसे महत्व न दिया। इसके विपरीत एक हठ ने जन्म लेकर उसके हृदय को दृढ़ बन्धनों में बाँध दिया।—"वह करेगी और करेगी!" अञ्जना आगे बढने लगी; और किशोर मन मे विषाद लिये हुए उसकी गति को देखने लगा, और देखने लगा।

जाड़े के दिन थे। दो बज रहे थे। किशोर ज्वर से प्रपीड़ित होकर अपने कमरे में कराह रहा था। अञ्जना ने उसके पास पहुँच कर कृत्रिमता से अपना हाथ उसके मस्तकपर रक्खा, और साथ ही साथ वह बोल उठी—'मै जरा सुधा के घर जा रही हूँ।'

किशोर ने अञ्जना की ओर देखा। अञ्जना ने अपनी आँखे नीची कर ली। किशोर उसकी ओर देखते ही देखते बोल उठा—'सुधा के घर जा रही हो, जाओ!'

स्पष्टतः किशोर की वाणी में घनतर विषाद था। अञ्जना ने भी उस विषाद को देखा, और इसमें सन्देह नहीं, कि उसके हृदय मे क एप्रकार की हलकी करुणा ने भी जन्म धारण कर लिया, पर जब

अञ्जना ने कुछ सोचा, तब वह हलकी करुणा रेगिस्तान की सरिता की भाँति अपने स्थान पर ही सूख गई, और अञ्जना बोल उठी—'मैं जा रही हूँ, थोड़ी ही देर में लौट आऊँगी !'

किशोर ने फिर अञ्जना की ओर देखा, और अञ्जना ने फिर अपनी आँखे नीची कर लीं। किशोर फिर बोल उठा—'हाँ हाँ, जाओ न !'

और उसने आह की एक करवट लेकर अपना मुख फेर लिया। कुछ देर के पश्चात् जब उसने फिर करवट ली, तब देखा अञ्जना नहीं थी। किशोर के मन पर एक घनतर विषाद नाच उठा। हृदय के भीतर जैसे एक कर्कश आघात-सा लगा। किशोर अपने हृदय को दबाकर सोचने लगा—'अञ्जना चली गई सुधा के यहाँ! आज अञ्जना चली गई सुधा के यहाँ, जब उसका पति बीमार है। अवश्य सुधा के यहाँ अञ्जना की कोई ऐसी वस्तु है, जो उसके प्राणों को उसके पति से भी अधिक प्रिय है। उसके पति से भी अधिक प्रिय ! तो क्या अरुणा की कविता ? पर अरुणा की कविता को तो वह यहाँ बैठकर भी पढ सकती थी। नहीं, अरुण की कविता नही, स्वयं अरुण ! हो सकता है, स्वयं अरुण ही सुधा के घर आया हो, और अञ्जना उसके चरणों पर अपने हृदय की भक्ति बिखेरने गई हो ' !'

किशोर का कमजोर हृदय काँप उठा। उसी प्रकार, जिस प्रकार वायु के रञ्चमात्र कम्पन से पीपल का पत्ता विकम्पित हो जाता है। किशोर कुछ देरतक मन ही मन सोचता रहा, फिर वह अपने काँपते हुए शरीर को लेकर उठा, और एक ओर को चल पड़ा। यद्यपि ज्वर के कारण किशोर का शरीर अधिक अशक्त हो गया था, पर उस समय उसकी गति उस मनुष्य की सी थी, जो अपने प्रतिस्पर्द्धी के दुर्गुणों को देखने के लिए आकाश और पाताल को भी एक करने मे साहस का रज्जु ढीला नही करता !

किशोर अपने घर से निकलकर एक ओर को चल पड़ा और कुछ दूर चलकर एक फाटकपर रुक गया। फाटक पर सुनहले अक्षरों में लिखा था, 'स्वागतम्'। 'स्वागतम्' किशोर के हृदय से निकला और प्रतिध्वनि के रूप में सम्पूर्ण अन्तस्तल में गूँज गया। किशोर फाटक के पास खड़ा होकर सोचने लगा—स्वागतम्! किसका स्वागतम्! क्या सुधा के यहाँ किसीका विवाह है? पर पौष के महीने में विवाह, फिर किसका स्वागतम्?'

किशोर के हृदय में एक आशंका नाच उठी, और वह कुछ देर तक रुककर एक साथ ही सोच गया, 'अरुण! तो क्या यह अरुण का स्वागतम्! हो सकता है आज अरुण के सम्मान में यहाँ कोई गोष्ठी हो, और अञ्जना भी उस गोष्ठी में सम्मिलित होने के लिये आई हो!' किशोर का हृदय आशङ्का से काँप उठा, और कुछ देर के लिये उसकी विचार-शक्तियाँ जैसे प्रसुप्त-सी हो गईं।

किशोर किंकर्तव्य-विमूढ़ सा बनकर अभी अपने स्थान पर खड़ा ही था, कि कोई पीछे से बोल उठा—चलिये बाबूसाहब, यहाँ क्यों खड़े है?

किशोर ने चकित होकर पीछे की ओर देखा, एक अपरिचित व्यक्ति, जो अपनी प्रकृत गति से फाटक के मध्यमार्ग की ओर बढ़ रहा था। किशोर ने उसकी बात का कुछ उत्तर न दिया, किन्तु उसकी प्रसुप्त विचार-शक्ति जागृत अवश्य हो उठी; और वह कुछ ही क्षणों में बहुत कुछ सोच गया! उसने सोचते ही सोचते उस अपरिचित व्यक्ति की ओर देखा, जो फाटक के बीच से निकलकर कुछ और आगे निकल गया था। किशोर उसकी ओर देखते ही देखते बोल उठा—सुनिये तो साहब! क्या अरुण के आने का समय अब हो गया है?

उस व्यक्ति ने पीछे फिर कर किशोर की ओर देखा, और वह उसकी ओर देखते ही देखते अपने स्वाभाविक स्वर में बोल उठा—हाँ अब वे आते ही होंगे; या आ गये हों!

किशोर ने उससे अब और कुछ प्रश्न न किया, मानों अब और प्रश्न करने की किशोर को आवश्यकता ही न हो ! किशोर कुछ देर के लिये पुनः किंकर्तव्य-विमूढ-सा बन गया। वह अपनी इसी अवस्था में एक बार फाटक की ओर बढ़ा, किन्तु फिर पीछे लौट आया, और उसके पैर अपने आप घर की ओर बढ पड़े। किशोर जब अपने घर पहुँचा, तब उसे ऐसा लगा, मानों उसका हृदय भट्ठी की तरह जल रहा है, और मस्तक फटा जा रहा है। किशोर पलँग पर गिर पड़ा। उसकी आँखे जब फिर खुली, तब उसने विस्मित मुद्रा से देखा, कमरा दीपक के मन्द प्रकाश मे दीन के हास्य की भाँति हँस रहा है और अंजना उसके पास चिन्तामग्न-सी बैठी हुई है।

किशोर ने अंजना की ओर देखा। अंजना ने अपना सिर नत कर लिया। किशोर मन्द स्वर मे बोल उठा—तुम लौट कर आ गई अजना !

अजना ने किशोर की ओर देखा, और देखते ही देखते कहा—हाँ, मुझे तो बड़ी देर हुये आये। आपकी तबियत अब कैसी है।

बहुत ठीक है अंजना !—किशोर बोल उठा—जाओ, तुम भी आराम करो। तुम थक गई होंगी।

और किशोर ने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

अंजना के हृदय को एक आघात-सा लगा। वह बोली तो कुछ न, पर उसके हृदय मे एक आँधी-सी डोल गई। अजना के हृदय की वह आँधी !—"बीमारी मे भी व्यग्य बोलने से न रहे ! थोड़ी देर के लिये चली गई, तो मानों कोई बहुत बड़ा अपराध कर दिया।" अंजना कुछ देरतक मन ही मन अपनी आँधी से खेलती रही, और फिर पास ही पडे हुए एक दूसरे पलँगपर जाकर लेट गई।

किशोर ने जब फिर करवट लेकर देखा, तो अञ्जना पलँगपर सो रही थी, और उसकी निश्वासे ऐसी चल रही थीं, मानों उसके हृदय

के भीतर बहुत बड़ी निश्चिन्तता हो। किशोर के मुख से 'हूँ' निकला और वह उठकर पलँगपर बैठ गया।

कह नहीं सकते, कि निशा की स्तब्धता में किशोर के मुख से निकले हुए इस उपेक्षित स्वर में उसके हृदय का कौन-कौन सा विकार था।

[३]

मनुष्य के मन की तन्मयता जब अधिक प्रबल हो जाती है, तब वह मूर्त आकार धारण करने के लिए व्याकुल हो उठती है। अरुण की कल्पना के प्रति अञ्जना के हृदय में जो प्रेम जाग उठा था, उसने धीरे-धीरे तन्मयता का स्वरूप धारण कर लिया, और जब तन्मयता अधिक प्रबल बन गई, तब वह मूर्त रूप में प्रगट होने के लिए व्याकुल हो उठी। अञ्जना जहाँ पहले अरुण की कविता को लेकर तन्मय रहा करती थी, वहाँ अब वह अरुण की कल्पना के साथ ही साथ अरुण के सम्बन्ध में भी सोचने लगी—'अरुण! जिसकी कल्पना इतनी सुकुमार है, जिसकी कल्पना मे हृदय को डुबा देने की ऐसी शक्ति है, वह अरुण कैसा होगा? अवश्य वह सुन्दर होगा—अतीव सुन्दर होगा। उसका हृदय तो इतना सुन्दर होगा, कि उसकी जोड़ की सुन्दरता समस्त विश्वभर में कही खोजने पर भी न मिलेगी। हृदय के सौन्दर्य को तो मै उसकी कल्पना के रूप में देख लेती हूँ, पर यदि एक बार उसे भी देख पाती, और देखकर उसके चरणों में.........!'

अञ्जना के मन में जब अरुण को देखने की साध उत्पन्न हुई, तब वह शनैः शनैः अधिक प्रबल ही बनती गई, और इतनी प्रबल बन गई, कि अञ्जना व्याकुल-सी रहने लगी। उसने अरुण के पास पत्र लिखने के लिए भी सोचा, और उसने उसका पता भी जान लिया।

दो-तीन बार अञ्जना ने पत्र लिखकर पूरा किया, किन्तु जब वह पत्र को लिफाफे में बन्द करने लगी, तब न जाने क्यों उसका साहस मन्द पड़ गया, और उसने पत्र फाड़कर फेंक दिया। पर उसके हृदय की व्याकुलता कम न हुई। अञ्जना का हृदय व्याकुलता की गोद में छटपटाने लगा, और वह अरुण की स्मृति में आत्म-विस्मृत हो गई।

उस दिन कितनी प्रसन्नता हुई थी अञ्जना को, जब उसकी सहेली सुधा ने उसे बताया था, कि आज अरुण के सम्मान में उसके यहाँ गोष्ठी होगी। उस दिन अञ्जना के हृदय का कोना-कोना विहंस उठा था। उसी प्रकार, जिस प्रकार प्राची में सूर्य्य की स्वर्णिम किरणों के निकलने पर विश्व का कोना-कोना विहँस उठता है। किशोर रुग्ण-शय्या पर पड़ा था, पर अञ्जना के हृदय में बरसते हुए उन्माद ने किशोर को भी विस्मृत कर दिया। उस किशोर को विस्मृत कर दिया, जो उसके भालपर उसके सौभाग्य की लाली बनकर चमका करता था। अञ्जना कितनी साध और कितनी उमंगे लेकर गई थी सुधा के यहाँ, किन्तु जब उसने सुना, कि अरुण सहसा बीमार पड़ गये, और वे न आ सकेंगे, तब अञ्जना के हृदय पर एक तुहिन-सा गिर पड़ा। वह बड़ी देर तक ठगी-सी सुधा के घर बैठी रही। कई बार अञ्जना के मन में आया, कि वह सुधा से अरुण का स्थानीय पता पूछ कर स्वयं उसके पास जाय, और उसे देखकर अपने हृदय की उष्णता शान्त करे, पर वह सुधा से पूछ न सकी! कई बार बात उसके ओठों तक आई, किन्तु रुक गई! अञ्जना व्याकुलता की तरंगों में डूबती-उतराती अपने घर चली गई, पर उसकी व्याकुलता दिनों दिन अधिक बढती ही गई, और अधिक बढती ही गई!

अब अञ्जना को अरुण की कल्पना से शान्ति न मिलती। पढती अब भी थी वह अरुण की कविता, पर अब स्वयं अरुण ही अञ्जना के हृदय से झाँका करता था। मनोविज्ञान के विद्वानों का कथन है

कि मनुष्य का मन जब किसीकी स्मृति में मथ उठता है, और वह उसे पाने में असमर्थ हो जाता है, तब वह या तो कवि बन जाता है, और या चित्रकार ! अञ्जना कवि तो न बन सकी, पर चित्रकार अवश्य बन गई। कदाचित् इसका कारण यह हो, कि अंजना के मन मे अरुण को देखने की जो साध जाग उठी थी, उसे सूक्ष्म काव्य-कल्पना से कहीं अधिक ठोस मूर्त कला ही अधिक प्रिय लगी हो! अंजना अरुण के चित्र बनाने लगी! उसने अरुण को देखा नही था, पर अरुण के सम्बन्ध में उसके हृदय में एक कल्पना अवश्य थी। उसने अरुण को देखे बिना ही उसके रूप-रंग, उसकी आकृति और उसके शरीर के सम्बन्ध में अपने मन में एक निश्चित् कल्पना कर ली थी, और वह अपनी उसी निश्चित् कल्पना को अधिक से अधिक मूर्त रूप देने के लिये प्रयत्न किया करती थी।

× × × ×

सन्ध्या के पाँच बज रहे थे। किशोर जब आफिस से लौट कर आया, तब घर में प्रवेश करने पर उसने देखा कि अंजना नही है, और नौकरानी उसके छोटेसे शिशु को झूलेपर झुला रही है। किशोर ने एक बार इधर-उधर घर में अजना को देखा। जब अंजना कहीं दिखाई न पड़ी, तब उसने नौकरानी से पूछा, किन्तु नौकरानी ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। किशोर के हृदय में दुःख की एक ऑधी-सी उठ पड़ी और वह बाहर निकलकर द्वारपर खड़ा हो गया। उसके मन में रह-रहकर आकुलता उठ रही थी। रह-रहकर उसके हृदय से यह निकल रहा था—'कितनी लापरवाह बन गई है अंजना! बच्चे को नौकरानी के सहारे छोड़कर स्वयं न जाने कहाँ चली गई! अजीब नारी है अंजना! न पति का ध्यान, न बच्चे की चिन्ता! न जाने किसकी स्मृति में दिन-रात डूबी रहती है। अरुण! अवश्य, अरुण को लेकर उसके मन मे विकार है! आज भी वह... ...!'

'अखबार है बाबू !' सहसा किशोर की विचारधारा भंग हो गई; और उसने विस्मित दृष्टि से देखा—अखबार का हाकर !

किशोर ने हाथ में अखबार ले लिया, पर उसका मन अखबार पढने को नहीं कर रहा था। सहसा उसकी दृष्टि अखबार के ऊपर पडी और वह चौक पड़ा। बड़े-बड़े अक्षरों में उसपर छपा था—सुप्रसिद्ध कवि अरुण का स्वर्गवास, साढे चार बजे अर्थी का जुलूस सर गंगाराम चौक से निकलेगा और श्मशान में जायगा।' किशोर थोड़ी देर के लिए स्तब्ध-सा हो गया और अरुण के लिये उसके हृदय में शोक की एक छोटी-सी बदली भी उमड़ आई, पर जब उसे अंजना का ध्यान आया, तब शोक की वह छोटी-सी बदली अपने जगहपर ही गल गई, और किशोर अंजना के ही सम्बन्ध में सोचने लगा—अंजना ! अवश्य,अंजना अरुण की अर्थी के साथ श्मशान में गई होगी !'

किशोर के हृदय में एक आँधी-सी उठ पड़ी ! यदि अंजना की केवल अरुण की अर्थी में जाने की ही बात होती तो कदाचित् किशोर के हृदय में आँधी न उठती, और वह कदाचित् मौन ही हो जाता, पर अरुण की अर्थी में जाने की बात ने उसके हृदय में अरुण और अंजना को लेकर एक वीभत्स चित्र-सा अङ्कित कर दिया। किशोर कुछ देरतक मन ही मन उस चित्र को देखता रहा, फिर न जाने क्या सोचकर द्रुतगति से श्मशान की ओर चल पड़ा।

श्मशान के समीप पहुँचकर किशोर ने देखा, अंजना अर्थी के साथ-साथ श्मशान की ओर बढ़ रही है। किशोर के मन की आँधी और भी अधिक तीव्र हो उठी। एक बार वह जोर से अंजना की ओर बढा, पर कुछ दूर चलकर फिर रुक गया, और एक स्थानपर खड़ा होकर अंजना की ओर देखने लगा। अंजना श्मशान की ओर बढती जा रही थी, अपनी सारी आकांक्षाओं और अपनी सारी उमंगों को सिमेटे हुये ! किशोर घर लौट आया। निराश-सा ! निश्चल,थका-सा !

वह घर पहुँचकर पलँगपर लेट गया, पर अरुण और अञ्जना की स्मृति! पुनः एक वीभत्स चित्र किशोर के मन में बना, और उसके बनने के साथ ही बहुत सी बातें किशोर के मन में उठ पड़ीं! किशोर एक-एक बात में शत-शत पङ्ख जोड़ता हुआ उठा, और अञ्जना का बाक्स खोलकर उसका निरीक्षण करने लगा। अञ्जना के बाक्स में अरुण का चित्र! किशोर ने उन चित्रों को हाथ में लेकर देखा, और फिर वह कुछ सोचकर उन्मत्त-सा हो उठा। वह अरुण के उन चित्रों को लेकर अपने बच्चे के समीप पहुँचा, और उससे उसके रूप-रंग की समता करने लगा। वैसी ही आकृति, वैसी ही नाक और वैसी ही आँखे! किशोर के भीतर की आग भड़क उठी। वह बच्चे को लेकर अपने घर के दो मंजिले पर चढ गया और 'रे दोगली संतान तू इसी योग्य है' कहकर नीचे छोड़ दिया।

बच्चा कार के एक सोफेपर, जो नीचे खड़ी थी, गिरा और चीख कर चुप हो गया। अञ्जना जब लौटकर आई, तब उसने देखा कि उसके द्वार पर बहुतसे लोग एकत्र हैं, और किशोर को पुलिस पकड़कर लिये जा रही है। किशोर और अञ्जना, दोनों ने एक दूसरे को देखा! दोनों के उस पारस्परिक दृष्टिपात में क्या था, कह नहीं सकते!

वह क्या करती ?

प्रमीला के पुत्र अजय का विवाह जब निश्चित हुआ, तब प्रमीला की आँखों में आँसू झलक आये। कह नहीं सकते, कि वे आँसू प्रसन्नता के थे, या दुःख के, पर जो लोग प्रमीला की प्रकृति को जानते थे, वे यदि उसकी आँखों में चमकती हुई अश्रुबूँदों को देखते तो वे यही कहते, कि प्रमीला को अपने पुत्र के विवाह से प्रसन्नता से कहीं अधिक दुःख ही हुआ है। प्रमीला एक ऐसी स्त्री थी, जो जीवन-पर्यन्त अपना अधिकार खोना नहीं चाहती थी। वह अपने पति के हृदय पर कठोरता से राज्य करती थी, और पुत्र के मन पर शासन। जब तक उसकी जुबान नहीं हिलती थी, क्या मजाल, कि उसके घर का एक भी काम हिल जाय और यदि हिल जाय तो प्रमीला अपनी कर्कश वाणी से पत्थर के कलेजे को भी विकम्पित कर देती थी। यह बात तो बिलकुल नहीं थी, कि प्रमीला ने अपने शासन का भार अजय और उसके पिता के हृदय पर जो डाल रक्खा था, उसे वे प्रसन्नता से उठाये हुये फिर रहे थे। इसके विपरीत उनके मन के भीतर दुःख और क्षोभ था। कभी-कभी अजय के पिता के मन का दुःख और क्षोभ बाहर भी फूट पड़ता, पर जब प्रमीला अपनी कर्कश वाणी से घर की दीवालों को हिला देती, तब वे मौन हो जाते और अपने लिये यही सर्वोत्तम समझते, कि जीवन की बागडोर अबाध रूप से प्रमीला के हाथों में छोड़ दी जाय, वह उसे तीव्र गति से चलाये, या मन्द गति से, यह उसकी इच्छा।

अपने पति और पुत्र के मन पर शासन करने की अपेक्षा कहीं अधिक उत्कण्ठा प्रमीला के मन में अपने भावी बहू के मन पर शासन

करने की थी। यद्यपि अभी घर में बहू का आगमन नहीं हुआ था, पर प्रमीला के मन में उसके हृदय पर शासन करने की इच्छायें बड़ी तीव्रता से दौड़ रही थीं। प्रमीला इस संबंध में बराबर अपने मन में कल्पनायें किया करती थी। बहू के घर में आने पर प्रमीला उसे किस प्रकार रक्खेगी, किस प्रकार उसे उठना बैठना पड़ेगा, किस प्रकार उसे बातें कहनी होंगी, इत्यादि बातों के चित्र प्रमीला अपने मन में तैयार करती रहती थी। कभी-कभी प्रमीला जब किसी पड़ोसी के घर जाती और वहाँ सास के मुखसे बहू की अनर्गलता की बातें सुनती तो प्रमीला गर्व के साथ कहने में बाज न आती कि तुमने स्वयं ही बहू को बिगाड़ रक्खा है। देखना मेरी बहू को, जब वह आयेगी। मै उसे इस तरह रक्खूँगी, कि कभी एक पत्ता भी न खड़केगा।

प्रमीला अपने मन के बनाये हुये चित्रों पर गर्व तो करती, पर कभी-कभी उसका मन आशंका से काँप उठता था। वह जब अड़ोस-पड़ोस में देखती, कि विवाह होने के पूर्व माँ का जो पुत्र उसकी गोद में लोटता फिरता था, वही अब विवाह हो जाने के पश्चात् उसी माँ को जैसे पराई-सी समझने लगा है, तब प्रमीला के हृदय के भीतर एक आँधी-सी उठ खड़ी हो जाती और वह भय पूर्वक सोचने लगती, कि कहीं विवाह हो जाने पर उसका पुत्र भी ऐसा ही न हो जाय। इसी भय के कारण कभी-कभी प्रमीला के मन में एक यह धुँधला विचार भी उत्पन्न हो उठता था, कि उसके पुत्र का विवाह ही न हो, पर इसके साथ ही साथ नारी हृदय की प्रकृत आकांक्षायें भी जाग उठती थी और इन आकांक्षाओं के कारण उसके हृदय का वह धुँधला विचार अपने स्थान पर ही मिटकर साफ हो जाता था। इसके अतिरिक्त प्रमीला को समाज और जाति विरादरी का भी तो भय था। अतः प्रमीला ने कभी अपने इस धुँधले विचार को ओठों पर न आने

दिया पर वह बहू के संबंध में सदा सतर्क रही। अजय के विवाह की जितनी बातें चलीं, उनमें प्रमीला ने अपनी ही कसौटी को प्रमुखता प्रदान की और जब उसकी दृष्टि में उसकी कसौटी पर सोना खरा उतर गया, तब उसने 'हाँ' कह दिया, किन्तु फिर भी उसकी आँखों में आँसू झलक ही आये। उसने अपनी आँखों का आँसू तो अपने अंचल से पोंछ लिया, पर उसका हृदय जो धड़का, वह कदाचित् बराबर ही धड़कता ही गया।

× × ×

रात्रि के साढ़े ग्यारह बज रहे थे। प्रमीला अपने कमरे में चारपाई पर लेटी हुई थी, पर प्रयत्न करने पर भी उसकी आँखों में नींद नही आ रही थी, मानो उसके मन में कोई काँटा हो, जो सुकुमार नीद के लिये पलकों तक पहुँचने मे बाधक हो रहा हो। प्रमीला की चारपाई के पास ही एक और भी चारपाई बिछी थी, जो खाली पड़ी थी। प्रमीला लेटे-लेटे सोच रही थी,अपनी बहू विजया के संबंध में जो नई-नई उसी दिन उसके घर आई थी। उसका एक-एक व्यवहार सजीव चित्र सा बनकर प्रमीला की आँखों के सामने आ रहा था और प्रमीला उसके औचित्य तथा अनौचित्य पर मन ही मन विचार कर रही थी। प्रमीला के मन में बहुत कुछ प्रसन्नता न थी, पर कोई बहुत बड़ा दुःख भी न था। विजया के प्रथम व्यवहार और चाल-ढाल मे प्रमीला को कमी अवश्य दृष्टिगोचर हो रही थी, पर वह मन ही मन यह सोचकर संतोष कर रही थी, कि अभी अज्ञान है, आगे चलकर ठीक हो जायगी।

पर इस संतोष मे भी प्रमीला का हृदय तो धड़क ही रहा था, और रह-रहकर उसकी आँखों के सामने आशंका का एक चित्र उपस्थित हो रहा था। प्रमीला चुपचाप पड़ी-पड़ी उन चित्रों को देख रही थी, पर सहसा किसी के आगमन से उसका मौन भंग हो गया; और

वह कुछ सकरुण-सी मन्द स्वर मे बोल उठी—आओ बहन रमोला !

रमोला प्रमीला की छोटी वहन थी, जो अजय के विवाह उत्सव पर उसके घर आई हुई थी। रमोला दूसरी चारपाई पर जो उसीके लिये बिछी हुई थी, जाकर बैठ गई, और कुछ देर तक सोचकर बोल उठी—बहू तो तुम्हें बड़ी अच्छी मिली है बहन ?

प्रमीला के हृदय में आशंका की जो आग जल रही थी, वह और भी अधिक धधक उठी। यद्यपि रमोला के कथन में कुछ विशेषता नही थी; और उसके कथन का ढंग भी अच्छा ही था, पर प्रमीला का मन दुर्भावना की ही ओर मुड़ा; और उसके हृदय के भीतर एक आँधी-सी उठकर घूम गई। प्रमीला उसी आँधी के आवेग में बोल उठी—क्या बात है बहन !

बात क्या है ?—रमोला ने अपने स्वाभाविक स्वर को विकृत बनाते हुये कहा—तुमने छान बीन तो बहुत की, पर जान पड़ता है, धोखा खा गई।

प्रमीला के हृदय पर एक तुहिन-सा गिर पड़ा। रमोला का विकृत स्वर अभी फूटकर पूर्ण रूप में बिखरा नही था, पर उतने से ही प्रमीला के भयातुर हृदय ने अपने संभावित चित्र को पहचान लिया, और वह स्तब्ध-सी हो गई। फिर वह उसी स्तब्धता में बोल उठी—आखिर कुछ सुनूँ तो बहन !

तुम्हें कदाचित् बुरा लगे बहन !—रमोला ने कहा—पर तुम्हारी बहू के रंग-ढंग अच्छे नही। इतने जोर-जोर से बेधड़क बात करना और खिलखिलाकर हँसना ! राम, राम, इस युग में चाहे जो न हो जाय ! मै जब पहले पहल ससुराल गई थी, तो सच कहती हूँ, बोलने को कौन कहे, उनके सामने जाते आँच लगती थी।

रमोला अपनी बात समाप्त करके मौन हो गई, पर प्रमीला के हृदय में एक भयानक झंझावात उत्पन्न हो गया। उसके हृदय में आशंका

के तूल का जो अंबार लगा हुआ था, इस भयानक झंझावात ने उठकर उसे चारों ओर उधरा दिया। प्रमीला का मन तूल के रेशे की ही भाँति कुछ देर उस झंझावात में उड़ता रहा, फिर वह विस्मय-पूर्वक बोल उठी—क्या तू सच कह रही है बहन ?

जाकर अपने कानों से सुन न लो !—रमोला ने अपनी वाणी को सयत बनाते हुये कहा—मुझसे तो सुना नहीं गया। आज की बहू, और ऐसी बातें !

प्रमीला के भीतर प्रभुत्वपन की जो स्पृहा छिपी हुई थी, रमोला की वाणी ने उसे उत्तेजित कर दिया। वह एक ही झोंके में चारपाई पर उठकर बैठ गई, और नीचे उतरकर आगे बढ़ने के लिये उद्यत हो गई, पर दो-ही-तीन कदम आगे बढ गई थी, कि फिर वह रुक गई। जैसे चलते-चलते उसे किसी बात का स्मरण हो आया हो; या अपने इस कार्यके औचित्य और अनौचित्य पर रुककर विचार करने लगी हो, पर उसके रुकते ही रमोला पुनः बोल उठी—जाने भी दो बहन, सुनकर क्या करोगी ? लोग सुनेंगे तो अपनी ही हँसी उड़ायेंगे। कहेंगे, कि बहू और बेटे की छिपकर बातें सुन रही थी।

प्रमीला के हृदय का आवेग जो कुछ मन्द पड गया था, रमोला की इस बात ने उसे पुन. उत्तेजित कर दिया। प्रमीला आवेग के स्वर से बोल उठी—मैं दूसरों के भय से अपने घर में आग नहीं लगा सकती बहन ! अभी रोग का प्रारम्भ ही है, यदि इसी समय दवा न कर दी गई तो हो सकता है, वह अधिक बढ जाय और हम सबको मुसीबत में डाल दे।

प्रमीला बात करते करते कमरे से बाहर निकल गई; और जब कुछ देर के पश्चात् लौटकर आई तब वह मस्तक पर हाथ रखकर चारपाई पर बैठ गई। रमोला ने उसकी ओर देखा, और वह उससे बिना पूछे ही समझ गई, कि वह इस समय अपनी पूरी प्रगति पर

है। रमोला कुछ न बोली; और कुछ देर के पश्चात् उसकी पलकें भी झपक गई। पर प्रमीला, कौन कह सकता है, कि उसी अवस्था में कब तक चारपाई पर बैठी रही। यदि उसकी आँखों में नींद आ भी गई होगी, तो इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं, कि सुप्तावस्था में भी उसका हृदय गरम भाथी की तरह फूलता-पचकता रहा होगा!

[२]

दिन के तीन-चार बज रहे थे। प्रमीला अपने कमरे मे मधु-मक्षिका की तरह भनभना रही थी। ठीक मधु-मक्षिका के स्वरों की ही भाँति उसकी वाणी भी कमरे की दीवालों से टकराकर कमरे में ही गूँज रही थी। प्रमीला, और किसी को कदाचित् नही, पर विजय को सुनाने के लिये ऊँचे-ऊँचे स्वरों में बोल रही थी। यद्यपि वह अभी विजया को कमरे में देखकर आई थी, कि यौवन के उन्माद में उसकी आँखे झपकी हुई थीं, पर फिर भी वह ऊँचे ऊँचे स्वरों में बोल रही थी! कदाचित् उसकी एक भी बात विजया के कानों में पहुँच जाय; और वह अच्छी तरह समझ ले, कि उसकी सास उसपर किस प्रकार शासन करना चाहती है!

"राम, राम, पास-पड़ोस की औरतों के सामने आज नाक कट गई। बेचारी सबकी सब देखने आई थी; और बहूजी बैठी ऊँघ रही थीं। भला सबने अपने मन में क्या सोचा होगा! अरे एक दिन बहू बनकर सभी लड़कियाँ ससुराल में जाती हैं, पर इस प्रकार कोई निर्लज्जता का जामा नही पहन लेता। अभी जब यह हाल है, तो आगे चलकर न जाने क्या हाल होगा!"

प्रमीला अपने कमरे में बैठकर सुपारी काटती जाती थी; और भुनभुनाती जा रही थी। कोई होता तो देखता कि प्रमीला की वाणी की तीव्रता को देखकर तेजधारा वाला सरौता भी मन ही मन

डर रहा था, और कदाचित् इसीलिये उसकी गति मन्द भी पड़ गई थी। प्रमीला की एक भी बात विजया के कानों में न पड़ सकी; पर संयोगतः अजय किसी कार्य वश प्रमीला के कमरे के सामने से निकल पड़ा और जब प्रमीला ने उसे देख लिया, तो वही उसके उस कोप का शिकार बन गया। प्रमीला अजय को देखते ही तुरन्त बोल उठी—अजय, बहू का अभी से यह क्या हाल है? जब देखो, तब नींद में। कोई बात करने के लिये आये, तो बैठे-बैठे ऊँघ जाना; और कोई मिलने के लिये आये तो उसके साथ उचित व्यवहार न करना! मैं तो अपना सिर पीट के रह जाती हूँ।

अजय ने प्रमीला की बात सुनी; पर उसने कुछ उत्तर न दिया। वह उत्तर दे ही क्या सकता था? उसने उत्तर तो न दिया, पर उसके हृदय में एक हल्का-सा दुःख अवश्य जाग उठा, और उसने भीतर अनुभव किया, कि प्रमीला की इस बात को उसका हृदय अनुचित ठहरा रहा है। वह जब अपना काम समाप्त करके कमरे से बाहर जाने लगा, तब प्रमीला पुनः बोल उठी—अजय, तुमने कुछ जवाब नहीं दिया। जरा बहू को समझा दिया करो।

अजय अपनी माँ प्रमीला की रग-रग से परिचित था। वह जानता था कि न जाने कब और किस बात से प्रमीला के भीतर की आग भड़क उठे। इसीलिए वह पहले प्रमीला की बात को सुनकर मौन ही रह गया, किन्तु प्रमीला ने उससे जब पुनः प्रश्न किया, तब उसके भीतर का दुख भड़क उठा, और वह खीझ-मिश्रित स्वर में बोल उठा—'मुझसे ऐसी बातें कभी न कहा करो माँ!'

यद्यपि अजय की वाणी में, जिसे क्रोध कहते हैं, वह न था। पर क्रोध के स्थान में खीझ का जो अंश था, प्रमीला के भीतर क्रोध को जन्म देने के लिए वह पर्याप्त था। अजय की बात का चाहे जो भी अर्थ रहा हो, पर प्रमीला ने तो उसका यही अर्थ लगाया,

कि अजय ने अपनी पत्नी का पक्ष लेकर उसका अपमान किया। अजय तो अपनी बात पूरी करता हुआ बाहर चला गया, किन्तु प्रमीला के हृदय में एक भीषण आँधी-सी चल पड़ी, और स्पष्टतः उसके हृदय की आँधी उसकी वाणी में भी दृष्टिगोचर हुई। उसने अपनी कर्कश वाणी से अपने घर और बाहर को एक कर दिया। जब वाणी की शक्ति शिथिल हो गई, तब प्रमीला ने इस प्रकार क्रन्दन करना प्रारम्भ किया, कि सारा घर अभिभूत हो उठा।

अन्त में विजय प्रमीला की ही हुई। प्रमीला के क्रन्दन ने अजय और अजय के पिता के हृदय पर ऐसा रंग जमाया कि वे अपना सर्वस्व समर्पित करके भी प्रमीला को शान्त करने के लिए उद्यत हो उठे। प्रमीला उस दिन शान्त तो हो गई, पर उसी दिन से घर में एक नई आग ने जन्म भी ले लिया और कभी-कभी अवसर पाकर यह आग भड़क भी जाया करती थी। जब कभी आग भड़कती, तो विजय प्रमीला की ही होती थी, पर प्रमीला की इस विजय के प्रति अजय और विजया के मन में शनैः शनैः ईर्ष्या भी उत्पन्न होती जा रही थी। कभी कभी विजया के मन की ईर्ष्या फूटकर बाहर भी निकल पड़ती थी, और जब कभी ऐसा होता था तो अजय और अजय के पिता के लिए एक भयानक दुःख का वातावरण उत्पन्न हो जाता था। विजया दुःख के उस वातावरण को देखकर मन ही मन पश्चात्ताप करती और सोचती, कि वह क्यों प्रमीला के मुँह लग जाया करती है? वह अजय और अजय के पिता की अभिभूतता को देखकर मन ही मन इस बात का संकल्प भी करती, कि वह अब कदापि प्रमीला के मुँह न लगा करेगी, और इसमें सन्देह नहीं कि विजया इस बात के लिए शक्तिभर प्रयत्न भी करती। प्रमीला जब कभी अवसर पाती, तो अपनी कर्कश वाणी से उसके हृदय को कुरेदने से बाज न आती, पर विजया केवल आँसू बहाकर मौन रह

जाया करती थी। बोलती तो वह तब थी, जब उसका कलेजा पक जाता था, और उसके भीतर की जलन इतनी तेज हो उठती थी, कि वह उसकी उष्णता को सहन करने में बिलकुल असमर्थ-सी हो जाती थी।

विजया के मौन आँसुओं को अजय भी देखता, और उसके पिता भी। कह नहीं सकते, कि विजया के मौन आँसू अजय के पिताके हृदय पर कैसा चित्र बना रहे थे; पर अजय के हृदय-पटल पर तो वे आँसू जैसे व्यथा के उत्तेजक गीत बनकर अङ्कित हो रहे थे, और यही कारण है, कि कभी कभी अजय विजया का पक्ष लेकर अपनी माँ से उलझ जाता। विजया की दयनीय स्थिति पर सहानुभूति तो अजय के पिता के हृदय में भी उत्पन्न होती, पर उनकी सहानुभूति सुस्वरित न होकर मौन ही रहती। प्रमीला ने पहले तो अजय के हृदय-पटल पर से विजया के आँसुओं के गीत को अपने प्रभुत्व से बलपूर्वक मिटानेका प्रयत्न किया, किन्तु जब उसने देखा, कि अजय पराजय स्वीकार न करके और भी अधिक तीव्र गति से विजया की ओर बढ़ता जा रहा है, तब उसने अपनी धारा बदल दी। अब वह अजय और उसके पिता को भी, अपनी कर्कशता से नहीं, बल्कि मृदुलता से अपने पक्ष में करने का प्रयत्न करने लगी, और इसमें सन्देह नहीं, कि प्रमीला को इसमें सफलता भी मिली।

अजय का विरोध यद्यपि मन्द पड़ गया, पर उसके हृदय में विजया के प्रति सहानुभूति तो थी ही। प्रमीला ने अजय की उस सहानुभूति को न पहचाना, और उसने यही समझा कि उसने अजय को अब अपने पक्ष मे कर लिया है। प्रमीला अब स्वच्छन्दता से विजया के हृदय मे काँटे चुभोने लगी। यद्यपि विजया का अपराध रञ्च मात्र भी न होता, पर प्रमीला के हृदय में उसके प्रति ईर्षा की आग जो जल रही थी! विजया इस बात का भर सक प्रयत्न

करती, कि वह इस प्रकारसे रहे, कि प्रमीला को उसे कुछ कहने का अवसर ही न मिले, पर फिर भी प्रमीला अपने लिये अवसर खोज ही लेती थी !

प्रमीला क्यों विजया के प्रति ईर्षालु हो रही थी ; और वह क्यों प्रारम्भ से ही उसे उपेक्षा की आग में जलाने लगी थी, यह तो प्रमीला भी नही जानती थी। न जाने क्यों, उसके हृदय में विजया के प्रति ईर्षा की आग थी, और वह दिनों दिन बढती ही जा रही थी। प्रमीला ने कभी इस बात पर भी विचार न किया, कि उसके हृदय में विजया के प्रति उपेक्षा की जो आग बढती जा रही है, उसका परिणाम भी कुछ हो सकता है, या नही। प्रमीला की प्रकृति में किसी काम के परिणाम की ओर ध्यान देने की बात थी ही नही, और फिर इसके परिणाम की ओर तो प्रमीला ध्यान दे ही नही सकती थी। बहुत होगा, विजया अपने पीहर चली जायगी, और वह अपने अजय का दूसरा विवाह कर लेगी, पर विजया का ध्यान उसके परिणाम की ओर था, और यही कारण था, कि विजया आँसू बहा कर मौन रह जाती थी।

काश, प्रमीला विजया के मौन आँसुओं के अर्थ को समझ सकती !

[३]

अजय के पिता नवल राय साधारण स्थिति के गृहस्थ थे। घर में तीन ही प्राणी थे। वे उनकी स्त्री प्रमीला, और पुत्र अजय। अजय एन्ट्रेन्स की परीक्षा पास करके घर पर ही नौकरी की प्रतीक्षा में अपना जीवन व्यतीत कर रहा था। जब तक अजय का विवाह न हुआ था, उसकी इस प्रतीक्षा मे व्याकुलता नही थी। न उसके लिए थी , और न प्रमीला तथा नवलराय के लिये ही। प्रमीला उसकी नौकरी के

लिये उत्सुक अवश्य रहती थी, पर उसकी उत्सुकता में व्याकुलता का पूर्णत अभाव था। उससे जब कोई कहता, कि अजय इतना बड़ा हो गया है, और कोई काम नही करता, तब वह चट उत्तर दे बैठती, कि क्या उसकी उम्र बीती जा रही है? करेगा ही काम काज, अभी उसकी अवस्था ही कितनी है!

पर अजय का विवाह होते ही प्रमीलाके विचारो में परिवर्तन हो गया। वैसे कदाचित् अजय कुछ दिनों तक और निश्चिन्तता का जीवन व्यतीत कर सकता था, किन्तु जब विजया प्रमीला की कसौटी पर खरी न उतरी और अजय जब विजया की ओर आकर्षित होता हुआ उसे दृष्टिगोचर हुआ, तव प्रमीला के हृदय मे एक नये विचार ने जन्म लिया। उसने सोचा, कि यदि अजय घर पर दिन रात रहेगा तो हो सकता है, कि विजया के प्रभाव की छाप पूर्णरूप से उसके ऊपर पड़ जाय और वह उसके हाथों से निकल जाय। अतः अब प्रमीला उसकी नौकरी के लिये जोर देने लगी! उसने कई बार स्वयं नवलराय से तो कहा ही, अजय से भी कहा। दो एक बार उसने उस समय में भी वेधक स्वर में कहा, जब अजय विजया का पक्ष लेकर उससे उलझ पडा था। वैसे तो अजय कुछ दिनो तक और भी घर पर बेकार पडा रह सकता था, पर जब उसकी माँ ने स्वय उसे इसके लिये वेधक स्वर मे लांछित किया, तब अजय के युवक हृदय में स्वाभिमान की आग भड़क उठी, और वह आसुओं की लडी पिरोती हुई विजया को छोड़कर कलकत्ते चला गया।

कलकत्ते मे अजय को काम मिल गया, और वह करने भी लगा। पर उसकी दृष्टि के संमुख सदैव विजया की एक तसवीर अंकित रहा करती थी। वह जब तक काम करता रहता, भूला रहता; किन्तु जब एकान्त में अवकाश के समय सोता, या बैठता, तो वह स्पष्टतः यह देखता, कि विजया आँसुओ की लड़ी पिरो रही है, और उसकी माँ

प्रमीला उसके हृदय-पयोधि को मथ-मथ करके उसका खारा पानी और भी अधिक उसकी आँखों में उलीच रही है। अजय के पास विजया के पत्र आते थे। विजया अपने पत्रों में घर के हाल चाल के अतिरिक्त और कुछ न लिखती थी ; पर न जाने क्यों विजया का पत्र पढ़ते हुये अजय का हृदय विकंपित हो जाता था, और उसे ऐसा लगता था; मानों विजया के पत्र के एक-एक शब्द स्वयं विजया बन कर खारे पानी का सागर उलच रहे हैं।

जाड़े के दिन थे। भगवान भास्कर प्रतीची की गोद में अपना मुँह छिपाने जा रहे थे। अजय जब अपने डेरे पर लौटा, तो उसे एक लिफाफा मिला। अजय ने लिफाफे को हाथमें लेकर एक बार इधर-उधर देखा। लिफाफे पर पते के अक्षर सुपरिचित ! अजय लिफाफा फाड़ कर पत्र पढ़ने लगाः—

काशी,

३-५-४७

प्राणनाथ !

अंतिम प्रणाम !

आप मेरे मौन आसुओं को देख चुके है। एक नहीं, अनेक बार। कई बार मेरे मौन आँसुओं ने हृदय की धधकती हुई अग्नि में गिरकर ज्वालामुखी की भाँति विस्फोट भी करना चाहा; पर मैंने केवल आप के लिये—केवल गार्हस्थ्य जीवन के लिये उन अश्रु-बूँदों को हृदय की आगमें गिरने के पहले ही पोंछ डाला। पर अब मेरे वे मौन अश्रु-बूँद उस आग में गिरकर उसे भड़काने के लिये अधिक विवश हो उठे हैं। लेकिन मै उन्हें ऐसा न करने दूँगी; गार्हस्थ्य जीवन में ज्वालामुखी का भयानक विस्फोट करके उसे खाक में न मिलने दूँगी। मैं अब तक अपनी मानव-वृत्तियों से लड़ी, पर अब लड़ने में असमर्थ हूँ। अतः

आपकी प्रसन्नता के लिये आई थी, और आप की ही सुख-शान्ति के के लिये जा रही हूँ। और जा रही हूँ, यह कामना लेकर, कि आप ही मेरे पूर्व जीवन मे भी मेरे भाल पर सौभाग्य बनकर चमके। बस। अन्तिम विदा, और चिर, विदा !!

अभागीनी—
विजया।

पत्र पढते ही अजय के हृदय का कोना-कोना जैसे पत्ते की भाँति काँप उठा; और उसके मन मे आया, कि वह उड़ कर एक ही साँस में अपने घर पहुँच जाय, पर तीन सौ मील का मार्ग! अजय को एक-एक क्षण जैसे एक युग के समान लंबा ज्ञात होने लगा। वह जिस रूप में आफिस से आया था; उसी रूप में स्टेशन की ओर चल पड़ा। कुछ ही देर मे वह गाड़ी पर था, और उसकी गाड़ी धुआँ उगलती हुई पश्चिम की ओर द्रुत गति से भागी जा रही थी।

प्रभात का समय था। सूर्य की किरणे पूर्व से फूट रही थीं। अजय जब अपने द्वार पर पहुँचा; तब उसके द्वार पर नीम के पेड़ पर बैठे पक्षी चहचहा उठे! मानो वे अपने स्वर में किसी के उपेक्षित जीवन के दुख-गीत गा रहे हों! अजय ने एक बार उन पक्षियो की ओर देखा। क्योंकि वह अनेक बार इन पक्षियों का चहचहाना सुन चुका था। फिर वह अपने घर के भीतर घुस गया। प्रमीला अपने कमरे के द्वार पर विषण्ण मुख से बैठी हुई थी। अजय को देखते ही 'आ गये बेटा' कह कर वह उसकी ओर दौड़ी, किन्तु अजय ने उसकी बात पर ध्यान न दिया। वह लपकता हुआ विजया के कमरे में गया, और इधर-उधर चारों ओर देखकर कर्कश स्वर में पूछ बैठा— विजया कहाँ है माँ ?

'विजया,विजया !! . प्रमीला के मुखसे अर्द्ध प्रस्फुटित स्वर फूट पड़ा!

'हाँ विजया, विजया'—अजय ने कर्कश स्वर में कहाँ।

वह पीहर चली गई है बेटा!—प्रमीला ने अपने स्वर को कृत्रिमता से व्यर्थ ढाँकते हुये उत्तर दिया।

पीहर चली गई है! सच, सच बताओ माँ, विजया कहाँ है:—अजय उत्तेजना के स्वर में बोल उठा।

प्रमीला का कंठ जैसे विजड़ित सा हो गया हो! वह अजय की ओर केवल देखती ही रह गई। एक बार उसके ओठ हिले अवश्य; पर वह कुछ कह न सकी। अजय की आँखों के सम्मुख वास्तविकता का एक चित्र घूम गया, और वह दुख-पूर्ण स्वर मे बोल उठा—अच्छा तो मैं भी अब उसके पीहर ही जा रहा हूँ माँ!

अजय बाहर की ओर चल पड़ा! प्रमीला ने लपककर उसके पैरों से लिपट गई, पर अजय न रुका! वह चला गया, और चला गया! कहाँ? कौन कह सकता है?

× × ×

वृद्धावस्था में प्रमीला रो-रोकर अन्धी बन गई थी, और लोगो से कहा करती थी, कि गार्हस्थ्य-जीवन में ग्रहण के लिये नही, वरन् त्याग के लिये लोगों को आकुल रहना चाहिये।

साधना

लोग कहते हैं, निशा प्राणी मात्र की आँखों में नीद की शराब उड़ेल देती है, किन्तु न जाने क्यों, वे दोनों कई दिनों से जग रहे थे। न दिन में विश्राम, और न रात में नीद। चेहरा उधड़ गया था, आँखे रक्त बन गई थीं, किन्तु फिर भी वे जग रहे थे। मानों निशा और निशा के वैभवों का उनकी आँखों पर कोई प्रभाव ही न पड़ता हो, मानों उनकी नीद के लिये निशा के प्रभाव-मार्ग में कोई काँटा हो, और निशा उस काँटे को उठा कर फेकने में अपने को असमर्थ पा रही हो!

रात का समय था। निशीथ संसार के साथ खेल रहा था। पेड़, पौधे, मनुष्य, सभी शान्त थे। पर उन दोनों के हृदय में शान्ति नहीं थी। दोनों आकुल थे, व्याकुलता की आँधियो के साथ परिभ्रान्त की भाँति उड़े जा रहे थे। दोनों अपने अपने हृदय में एक अशान्त संसार छिपा कर, एक ही कमरे में, अलग-अलग चारपाई पर पड़े थे। एक मौन था, चुपचाप विचारों के गगन पर स्वतंत्र पक्षी की भाँति उड़ रहा था, किन्तु दूसरा बीच-बीच मे कभी कराह उठता था, और अपनी कराह से उस पक्षी को विचारों के गगन से नीचे उतार कर अपने पास ठहरने के लिये विवश कर देता था।

उन दोनों मे एक पति था, और दूसरी उसकी पत्नी थी। पति का नाम कमल और पत्नी का नाम साधना था। साधना अस्वस्थ थी; कई दिन से रोग से लड़ रही थी। उसका शरीर जल रहा था। वह कई दिन से जल-विहीन मीन की भाँति तड़पा करती थी। कमल उसके पास बैठ कर उसकी सेवा करता, और उसके मुख की ओर देखा करता था। साधना कभी-कभी अपनी बन्द आँखो को खोल कर

कमल की ओर देख लेती; और ज्वर की वेदना के साथ ही साथ एक और भी पीड़ा अपने हृदय में सुला कर अपनी आँखों को वन्द कर लेती थी।

साधना ज्वर की गर्मी से व्याकुल थी, और कमल उसके पास ही एक दूसरी चारपाई पर आकुलता के संसार में परिभ्रमण कर रहा था। वह चुप-चाप चारपाई पर पड़ा था; पर उसके मन में विचारों की आँधियाँ चल रही थीं। वह उन्हीं आँधियों के प्रचण्ड झोंके में अज्ञात और अनिश्चित दिशा की ओर उड़ा जा रहा था। कभी कुछ सोचता, तो कभी कुछ! वह कुछ भी सोचता; पर उसमें बीमार साधना अवश्य होती। उसकी प्रत्येक विचार-धारा दौड़ती हुई साधना के पास जाती; और वहीं विवश होकर रुक जाती। कमल का हृदय काँप उठता, और वह मन ही मन कह उठता,। आह, क्या साधना लुट जायगी?

कमल अपनी आंतरिक पीड़ा से व्याकुल होकर चारपाई पर उठकर बैठने ही वाला था, कि साधना कराह उठी। कमल ने शीघ्रता से उठकर उसके मस्तक पर हाथ रक्खा। साधना का मस्तक आग की तरह जल रहा था। कमल उस बढ़े हुये उत्ताप को देखकर भयभीत-सा हो उठा। उसने लालटेन के मन्द प्रकाश को और भी अधिक जगाकर साधना के मुख की ओर देखा। उसे साधना की सूखी और उधड़ी हुई आकृति पर एक विचित्र साहस की ज्योति दिखाई पड़ी—साधना अपनी सूनी आँखों में पीड़ा और करुणा की बस्ती बसाकर कमल की ओर देख रही थी। कमल उसकी उस भावमयी चितवन को देखकर कुछ भयभीत-सा हो उठा। वह साधना से कुछ पूछना ही चाहता था, कि साधना धीरे से अपना हाथ उठाकर अपने भाल पर ले गई और कमल के हाथको पकड़कर उसे लाकर अपनी छाती पर टिका दिया। फिर वह मन्द स्वर में बोल उठी—एक बात कहूँ, मानियेगा!

क्यों न मानूँगा साधना !—कमल ने उत्तर दिया—पर इस समय तुम्हारे शरीर का ताप अधिक बढ़ गया है। यदि चुपचाप पड़ी रहो तो विशेष अच्छा हो।

नहीं, मेरा जी हल्का है !—साधना ने मन्द स्वर मे कहा—मेरी चिन्ता न कीजिये। क्या आप जानते है, मेरी बीमारी क्यो बढ़ती जा रही है ? आप नहीं जानते, सुनिये मै बतलाती हूँ। मेरी बीमारी के बढने के कारण आप है, केवल आप।

कमल का हृदय पीड़ा और विस्मय से काँप उठा। उसकी आकृति पर, उसकी आँखों में और उसके शरीर के अंग-अंग में विषाद और उदासीनता डोल उठी। उसने अपने मुख को नत करके मन्द स्वर में कहा—हाँ, तुम सच कहती हो साधना ! मै ही तुम्हारी बीमारी का कारण हूँ। मैने तुम्हें कभी किसी प्रकार का सुख नही दिया और इस समय जब तुम बीमार हो, मै तुम्हारी चिकित्सा भी नही कर रहा हूँ। ईश्वर ने तुम्हें मेरे जीवन के साथ बाँधकर तुम पर बड़ा अन्याय किया है, किन्तु मैं विवश हूँ साधना !

साधना के मृत प्राय शरीर में जैसे साहस की बिजली-सी दौड़ गई। वह कमल के हाथ को छोड़कर धीरे से अपने हाथ को कमल के मुख के पास ले गयी और उसके मुख को ऊपर उठाते हुये भावों की रानी-सदृश बोल उठी—"अन्याय नही, न्याय। ईश्वर ने मुझे आपके जीवन के साथ बाँधकर मुझ पर उपकार किया है, महान उपकार !"

फिर तुम्हारी बात का क्या तात्पर्य है साधना !—कमल ने साधना की आकृति की ओर देखते हुये कहा।

"तात्पर्य !"—साधना सतेज होकर बोल उठी—"आप स्त्री के हृदय को नहीं जानते। स्त्री अपना सब कुछ खोकर भी अपने जीवन के देवता को प्रसन्न देखना चाहती है। आप ही बताएँ, जब अपन

दिन भर सड़कों की धूलि छानने के पश्चात् निराश होकर घर लौट आते है, और आपकी साधना जब आपके उजड़े हुये स्वरूप को देखती है, तब वह कैसे सुखी रह सकती है ? आपके जर्जर शरीर ही ने तो साधना के जीवन-तरु को हिला दिया है। कौन जाने मैं रहूँ, या न रहूँ, किन्तु मै आपसे कहती हूँ, कि आप इस काम को छोड़ दें ! यह काम मेरा जीवन-तरु हिलाने के साथ ही साथ आपके भी जीवन-तरु को हिला देगा। ईश्वर न करे, मुझे वह दिन देखने को मिले।"

साधना का सतेज स्वर मन्द पड़ गया, जैसे वह किसी भयानक विषाद से कंपित हो उठी हो। उसका आन्तरिक विषाद स्पष्ट रूपसे उसकी आँखों में दृष्टिगोचर होने लगा। कमल ने ध्यान से उसकी ओर देखा। वह जैसे विषाद के भार से नीचे गिरी जा रही थी। कमल उसे सँभालने का प्रयत्न करते हुये बोल उठा—"यह तू क्या कह रही है साधना ? क्या तुझे विश्वास है, कि मै इस काम को छोड़ देने के पश्चात् अमीर हो जाऊँगा।"

उदासीनता से ढँकी हुई साधना की आकृति पर पुनः साहस की तेजी टपक पड़ी। वह अपने झुके हुये मुखको ऊपर उठाकर कहने लगी—"जानती हूँ। यही तो जीवन में सुख और सन्तोष है। अब तक जो साँसे टिकी हुई है, वे केवल इसी शक्ति पर कि संसार मेरा ऋणी है, मै संसार की नहीं। जिन मनुष्यों की पंक्ति में आप अपने को बैठाल रहे हैं, वे पूज्य है, आदरणीय है, किन्तु उन्हें भी जीवित रहने का अधिकार है। उन्हें भी खाने के लिये रोटी और पहनने के लिये कपड़ा चाहिये। आप पुस्तकें लिखते है, साहित्य की सेवा करते हैं, और देते है संसार को ज्ञान, किन्तु आपका घर रिक्त है, इतना रिक्त है, कि आप अपने सबसे प्यारी साधना की चिकित्सा भी नहीं कर सकते। हजारों लाखों मनुष्य आपकी पुस्तकों को पढते है, प्रकाशक उनसे लाभ उठाते है, किन्तु आप अपने लिये अच्छा भोजन भी नहीं

प्राप्त कर सकते। आप नहीं देख रहे है, मै देख रही हूँ। आपका शरीर जर्जर हो उठा है। चेहरा उधड़ गया है, ऑखे धॅस गई है। आप मुझ पर दया करे। मै सुख नहीं चाहती, धन नही चाहती। केवल आपके साथ संसार मे जीवित रहना चाहती हूँ। यह साहित्य सेवा! ओह, यह मेरे जीवनाकाश पर राहु की भॉति बढ़ती आ रही है। कही यह आगे बढकर मेरे जीवन—विधु को .. !"

साधना की ऑखो मे ऑसू छलक पड़े। वह अपने मुख को नीचे छिपा कर सिसकियॉ लेने लगी। कमल मूक की भॉति कुछ देर तक बैठा रहा। उसके हृदय मे भयानक वेदना थी, और भयानक विषाद। एक ओर साहित्य देवता की अराधना, और दूसरी ओर साधना। दोनों ही उसके जीवन की निधियॉ थीं, और दोनों ही पर वह अपने हृदय का गर्व प्रगट करता था। वह भूखा रहा; उसने व्याकु-लता से लड़-लड़ कर अपने जीवन की राते बिताईं, किन्तु उसने कभी साहित्य—देवता की आराधना को छोड़ने का संकल्प तक न किया। वह बराबर चिन्ता के साथ आगे बढ़ता गया, किन्तु आज बीमार और करुणा की मूर्ति साधना! उसे देखकर आज उसके अन्तर का कोना-कोना कंपित हो उठा। अभाव और पीड़ा ने उसके हृदय को ऐसा हिला दिया, कि वह सचमुच साहित्य-देवता की आराधना को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। वह साधना को अपने दोनों हाथों से उठा कर कह उठा—आकुल न हो साधना! तुम्हारे शरीर का ताप अधिक बढ़ गया है। मै जानता नही था, कि तू भीतर ही भीतर मेरे लिये अपने जीवन का होम कर रही है।

बात समाप्त होते होते कमल की ऑखे भी सजल हो उठी। पति-पत्नी, दोनों ही कुछ देर तक उसी सजलावस्था में बैठे रहे, किन्तु वहॉ पीड़ा और अभाव के अतिरिक्त था ही कौन, जो उन्हें सान्त्वना देता।

× × ×

दिन के दस बज रहे थे। कमल साधना को घर में एक उपचारिका के सहारे छोड़कर सड़क पर चला जा रहा था। वह मन ही मन कुछ सोच रहा था। क्या सोच रहा था, कौन जाने ? कदाचित् वह सोच रहा था, क्या मै साधना की चिकित्सा भी न कर सकूँगा ? जीवन में मैंने उसे कभी सुख नहीं दिया। बेचारी जबसे आई है, मेरे साथ चिन्ता की आग में जल रही है। चिन्ता की आग में जलते ही जलते तो उसकी अवस्था आज यहाँ तक पहुँच गई। तो क्या इस समय भी मैं उसके लिये कुछ न कर सकूँगा ? एक मजदूर भी अपनी बीमार स्त्री की चिकित्सा में पैसे खर्च करता है, दरिद्र से दरिद्र भी अपनी जीवन-रानी को बचाने के लिये कुछ उठा नही रखता, किन्तु मै क्या करूं ? तो क्या मेरा जीवन संसार में सबसे निकृष्ट है ?

कमल का हृदय आन्तरिक पीड़ा से मथ उठा। वह अपनी पीड़ा के संसार को लेकर कई व्यक्तियों के पास गया। ऐसे व्यक्तियों के पास गया, जिनके पास उसकी रचनाओ की प्रशंसा के लिये शब्दों का अक्षय भंडार था; और जो उसकी पुस्तकों को छाप-छाप कर धन पैदा कर रहे थे, पर किसीसे भी कमल को सहानुभूति न मिली। कमल के हृदय के कोने में वेदना की आँधी उठकर दौड़ गई, और वह निरुपाय, विवश, पार्क में जाकर एक बेंच पर बैठकर विचारों के गगन पर उड़ने लगा।

सन्ध्या सन्निकट थी। प्रतीची के भाल पर सूर्य एक स्वर्णिम बूँद की भाँति ज्ञात हो रहा था। कमल ने उस स्वर्णिम बूँद को देखा। उसे देखकर कमल की विचार धारा बदल गई, और वह सोचने लगा—"प्रभात काल का सूर्य सन्ध्या होते होते स्वर्णिम बूँद के रूप में ! कुछ देर के पश्चात् यह बूँद भी न रहेगी, और फिर उस सूर्य का, जो मध्याह्न काल में अपने प्रकाश के मद में अपनी प्रचण्डता उगल कर दर्प से हँस रहा था, अस्तित्त्व भी मिट जायगा ! यह

संसार कितना परिवर्तनशील है। तो क्या इस परिवर्तनशील जगत के चक्र में मेरी साधना भी ... ।"

कमल की विचार धारा रुक गई; और उसके अन्तर के तार-तार झनझना उठे। साधना के नाम-स्मरण से ही उसकी एक तस्वीर कमल की आँखों के सामने खिंच गई। उसकी सूखी-सूखी हड्डियाँ, पिचके हुये गाल, और उसकी उधड़ी हुई आकृति में उसकी दो बड़ी बड़ी आँखें! मानों वह अपनी उन्ही आँखों में अपने प्राणों को गलाकर कह रही है, तुम इस काम को छोड़ दो। तुम्हारा शरीर जर्जरित होता जा रहा है। मै तुम्हारे जर्जरित शरीर को नही देख सकती, नही देख सकती।" कमल के मुख से अपने आप निकल पड़ा, 'साधना देवी है, मानव के रूप में स्वर्ग की अलभ्य प्रतिमा है।' और फिर कमल सोचने लगा—"तो क्या मै स्वर्ग की इस प्रतिमा को इसी प्रकार घुट-घुटकर मर जाने दूँ? वह मेरी आँखो के सामने ही चिन्ता की आग में जल जाय, और मै यों ही देखा करूँ? नही, मै उसे न जलने दूँगा। एक बार काल से भी उसके लिये युद्ध करूँगा। वह देवी है, स्वर्ग की प्रतिमा है।"

कमल सोचते सोचते उठकर खड़ा हो गया, और अनिश्चित गति से अनिश्चित विचारों को मनमें लेकर आगे बढ़ने ही वाला था, कि कोई पीछे से बोल उठा—कमल बाबू?

कमल ने पीछे फिरकर विस्मय की मुद्रा से देखा, और विस्मय के साथ ही उसके मुखसे निकल पड़ा—प्रतिमा!

हाँ कमल बाबू! प्रतिमा के मुखसे निकला, और वह दोनो हाथ जोड़कर नमस्ते करती हुई कमल के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई।

कमल ने एकबार प्रतिमा को देखा। प्रतिमा के शरीर पर यौवन लस रहा था। अमीरी के साधन यौवन पर झिलमिला रहे थे। कमल कई बार इस प्रतिमा को देख चुका था, और यह प्रतिमा भी

अनेक बार कमल को देख चुकी थी, पर दोनों के दृष्टि विक्षेप में बड़ा विभेद था। कमल उसे देखकर जहाँ भूल जाता, वहाँ प्रतिमा उसे देखकर उसकी स्मृति अपने मनके भीतर बसा लेती। कमल के मनमें प्रतिमा को देखने की उत्कंठा न रहती; किन्तु प्रतिमा उसे देखने के लिये व्याकुल सी रहा करती थी। कमल के लिये उसके मनमें एक उथल-पुथल भी होता रहता था। कमल को जब वह अभाव की आग में जलता हुआ देखती, तब उसे अधिक कष्ट भी होता था। दो एकबार वह कमल की सहायता करने के लिये भी तैयार हुई, किन्तु कमल ने उसकी सहायता को स्वीकार न किया। यद्यपि प्रतिमा में सुन्दरता की दृष्टि से कुछ अभाव न था, और वह हृदय से चाहती थी, कि कमल उसकी ओर आकर्षित हो, पर कमल ने कभी देख करके भी उसे न देखा। न जाने क्यों प्रतिमा को देखते ही कमल की आँखों के सामने साधना की एक तस्वीर खिंच जाती और उसका मन ऐसा अनुभव करने लगता, कि यदि वह प्रतिमा की ओर आकर्षित होता है, तो यह साधना के प्रति बहुत बड़ा विश्वासघात होगा!"

उस दिन भी जब कमलने प्रतिमाको देखा, तब उसकी आँखोंके सामने साधना की एक तस्वीर अंकित हो गई। कमल प्रतिमा के नमस्ते का उत्तर देकर कुछ देर तक मौन रहा! कदाचित् वह भीतर ही भीतर साधनाकी तस्वीर देख रहा था। फिर वह प्रतिमाकी ओर देखकर बोल उठा—मुझे एक अधिक आवश्यक काम है प्रतिमा!

कमल का स्वर उखड़ा हुआ था। जैसे एक एक शब्द किसी विजडित कंठ से फूटकर निकल रहा हो! प्रतिमा ने कमल की आकृति की ओर देखा। उसकी आकृति पर चारों ओर विषाद ही विषाद बरस रहा था। प्रतिमा बोल उठी, कमल बाबू, आज आप अधिक चिन्तित दिखाई दे रहे है!

कमलने एकबार साहस तो किया, कि वह पूर्वकी भाँति अपना

'चिन्ता और जगत' का दार्शनिक ज्ञान प्रतिमाके सामने उँडेल दे; पर बात उसके कठसे फूट न सकी; और इसका कारण यह था, कि उसका हृदय निराशासे अधिक जर्जर हो उठा था। दार्शनिक ज्ञानकी तरंग हृदयसे उठी अवश्य, पर कुछ दूर चल करके ही वह विलीन हो गई; और कमल अपने ओठों पर कृत्रिम साहस प्रगट करते हुये बोल उठा—कुछ नहीं प्रतिमा देवी !

स्पष्टतः कमलकी वाणी मे वेदनाका समुद्र लहरा रहा था। वह उसे छिपाने का प्रयत्न अवश्य कर रहा था, पर क्या कोई समुद्रके ज्वारको भी बॉधकर रख सका है ? प्रतिमा कमलकी ओर देखती हुई बोल उठी—मुझसे आप छिपा रहे है कमल बाबू ?

कमलसे कुछ उत्तर सूझ न पडा। प्रतिमाने जो सहानुभूति प्रदर्शित की, तो वेदनासे जकडा हुआ कमल का कठ और भी अधिक जकड़ उठा। प्रतिमा कमल की ओर देखती हुई पुनः बोल उठी—आप मुझसे छिपाते है कमल बाबू, पर मै सब जानती हूॅ। अफसोस है कमल बाबू, आप इस प्रकार साधनासे हाथ धो बैठेगे !

कमलने प्रतिमा की ओर देखा ! प्रतिमाकी आकृति पर सहानुभूति के भाव नृत्य कर रहे थे। प्रतिमा ने सोचा था, कमल उसकी बातका कुछ उत्तर देगा, किन्तु जब कमल फिर भी मौन ही रहा, तब प्रतिमा पुनः बोल उठी—मै आपकी विवशता को जानती हूॅ कमल बाबू, पर आज मै आपको अस्वीकार न करने दूॅगी। आज आपको मेरी बात ... ।

प्रतिमा अपनी बात पूरी भी न कर पाई थी, कि कमल बीचमें ही बोल उठा—नही, प्रतिमा देवी, आप मेरे लिये कष्ट न करे।

आज मै कुछ न सुनूॅगी कमल !—प्रतिमा दृढता प्रगट करती हुई बोल उठी—तुम अपने लिये नही कमल, पर साधनाके लिये मेरी बात अवश्य मानों ! मै सच कहती हूॅ कमल, यदि तुम मेरी बात न मानोगे, तो साधना से हाथ धो बैठोगे !

और प्रतिमा ने कमल का हाथ पकड़ लिया। कमल की आँखों के सामने साधना की एक तसवीर अंकित हो उठी; और उसके मनमें आया कि वह अपना हाथ प्रतिमा के हाथ से छुड़ा ले, पर साधना बीमार! कमल विवश हो उठा, और वह जैसे जंजीर में गस्त-सा प्रतिमा के पीछे पीछे चल पड़ा। कमल के मनमे पाश्चात्ताप का द्वन्द्व था, किन्तु प्रतिमा अपनी इस विजय पर मन ही मन गर्वका अनुभव कर रही थी!

× × ×

दोपहर का समय था, और जाड़े का दिन। कमल किसी कामसे घर से बाहर गया था। साधना चारपाई पर पड़ी थी, पर अब शनैः शनैः उसकी दशा सुधरती जा रही थी। प्रतिमा उसकी चारपाई के पास बैठकर क्रुसिया से स्वेटर बुन रही थी। आज कई दिनों से प्रतिमा बराबर कमल के घर आया करती थी, और उससे जो कुछ हो सकता था, वह साधना के लिये करती थी। यद्यपि कमल ने साधना को कुछ न बताया, कि वह कहाँ से डाक्टर को फीस देता है; और कहाँ से रुपये लाकर उसकी चिकित्सा में खर्च करता है, पर प्रतिमाको देखकर उसने इस संबंध में अपने मनमें एक अनुमान लगा लिया था, और इस अनुमान के साथ ही साथ उसके मनमें एक नये विचार ने भी जन्म ले लिया था। प्रतिमा के प्रति साधना के मनमे ईर्षाकी भावना तो नही उत्पन्न हुई, किन्तु वह यह सोचने अवश्य लगी, कि कमल और प्रतिमा दोनोंका अच्छा साथ है, पर यह साधना! साधना ही उसमें बाधक है। यदि, यदि......!

अपनी रुग्णावस्था पर जब साधना ध्यान देती तो उसका मन और भी अधिक पीड़ा से मथ उठता; और वह सोचने लगती, वह कमलके लिये कुछ नही कर रही है। कमल उसे लेकर कितना चिन्तित है, कितना दुखित है। खाने-पीने की चिन्ता छोड़कर दिन-दिन भर डाक्टरों के यहाँ मारा-मारा घूमता है। घर लौटने पर बेचारेको रोटी

भी नसीब नहीं होती। यह प्रतिमा कितने प्यारसे उसे खिलाती है; और कितनी चिन्ता करती है कमलकी. .. । यदि .... ।

साधनाके मनमें प्रायः इसी प्रकार चिन्ताकी लहरे उठा करती थीं। उस दिन भी साधना चिन्ताके यान पर चढ़कर विचारोंके गगन पर परिभ्रमण कर रही थी; और प्रतिमा उसके पास बैठी हुई थी। साधनाकी ही भाँति प्रतिमाके मनमें भी विचारोंका द्वन्द उठ रहा था। प्रतिमाके मनमें कमलको लेकर जो मोह उत्पन्न हो गया था, वही रह रहकर प्रतिमाको विचारोंके झूले पर झुला रहा था। प्रतिमा साधनाकी सेवा अवश्य करती थी; और उसकी चिकित्साके लिये कमलको रुपये भी देती थी, पर उसके मनके एक कोनेमें साधना उसे अपने और कमलके मार्गका बाधक भी दृष्टिगोचर हो रही थी। जब कभी प्रतिमा अपने और कमलके जीवन पर विचार करती, और फिर साधनाकी ओर ध्यान देती, तो फिर वह यह सोचे बिना न रहती, कि साधना यदि .. ।

प्रतिमा अपने मन के द्वन्द को साधना से छिपाने का भरसक प्रयत्न करती। वह साधना के सामने कमल की ओर न तो देखती, और न उससे व्यर्थ बातें ही करती, किन्तु फिर भी साधना प्रतिमा के मन के द्वन्द को जान ही गई। उसने कमल के मन को भी कुछ जानने का प्रयत्न किया! साधना कमल के मन को जान पाई भी या नही. पर उसके कारण कमल को जो दुःख की आग मे जलना पड़ रहा था, उससे वह अपने ऊपर क्षुभित अवश्य हो उठी, और उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह अब जीवित रहने का प्रयत्न न करेगी, न करेगी।

प्रतिमा ने ऊन के तागे को कोंसिया में फँसाते हुए घड़ी की ओर देखा। घड़ी मे एक बज रहे थे। प्रतिमा घड़ी की ओर देख कर बोल उठी—'दवा पीने का समय हो गया बहन, दवा पी लो!

साधना ने प्रतिमा की ओर देखा। साधना की आज की दृष्टि प्रतिमा को कुछ विचित्र-सी दृष्टिगोचर हुई। प्रतिमा उसकी ओर देखकर शीशी से प्याले में दवा उँड़ेलने लगी, पर साधना उसकी ओर देखती ही रह गई। प्रतिमा जब उसे दवा देने लगी, तब भी साधना उसकी ओर देख रही थी। हाथ में दवा की प्याली लेकर साधना प्रतिमा की ओर देखती हुई बोल उठी—'दवा बहुत कड़ुवी है प्रतिमा! पीते ही पानी की जरूरत पड़ेगी।'

प्रतिमा पानी के लिए उठी, और साधना ने दवा नीचे डाल दिया। प्रतिमा ने समझा, साधना दवा पी गई, पर साधना ने तो दवा न पीने का निश्चय कर लिया था। प्रतिमा या कमल प्रतिदिन साधना को जब दवा देता, तो प्रतिमा उसे नीचे डाल दिया करती थी। फलतः साधना की अवस्था शनैः शनैः अधिक चिन्तनीय हो गई। साधना की अवस्था चिन्तनीय होने के साथ ही साथ कमल का शरीर भी अधिक जर्जरित-सा हो उठा। यद्यपि प्रतिमा कमल को सँभालने का प्रयत्न करती, पर कमल के मन में व्याकुलता की जो आँधी चल रही थी, उससे वह आत्मविस्मृत-सा रहा करता था। साधना जब कमल की आकुलता और उसके जर्जरित शरीर को देखती, तब वह और भी अधिक व्याकुल हो उठती, और मन ही मन कह उठती—'भगवान, यदि अब मेरे जीवन का ·····।'

पूर्व के रंगमञ्चपर उषा अपना स्वर्णिम रंग छिड़क रही थी, और प्रकृति उसकी अरुणिमा मे रँगकर यौवन के प्रथम चरण मे प्रवेश करती हुई किशोरी-सी ज्ञात हो रही थी। साधना ने अपनी दृष्टि खिड़की पर डाली। उषा की एक अरुण रेखा उसकी खिड़की से होकर उसकी चारपाई पर आकर खेल रही थी। साधना कराहती हुई मन्द स्वर से बोल उठी—'तुम साहित्यकार हो! देखते हो, इस अरुण रेखा को! यह मुझे अपना सन्देश देने आई है!'

कमल चुप रहा। वह दृष्टि गड़ाकर साधना की आकृति की ओर ध्यान से देखने लगा। साधना की आकृति पर एक तेज-सा खेल रहा था। यद्यपि आज की रात साधना ने बडी कठिनाई से बिताई थी; और कमल को रातभर जागते ही बीता था, पर उसकी मलिनता रञ्च मात्र भी साधना की आकृति पर दृष्टिगोचर नही हो रही थी। कमल ने सोचा, साधना नया जीवन पा रही है। साधना पुनः बोल उठी—'उषा की यह प्रथम किरण! चलो, किरण चलो, मैं अब देर न करूँगी। तुम जब यान लेकर आई हो, तब · पर तुम तो प्रतिदिन आओगी किरण, और मै आज से कभी नही। मेरा कमल मुरझा गया है किरण! तुम प्रतिदिन आना, मेरे कमल से खेलना और खेल-खेलकर उसे हँसाना किरण!'

साधना चुप हो गई। कमल को ऐसा लगा, जैसे साधना की वाणी का तार टूट रहा है। कमल शोक से अभिभूत होकर बोल उठा—'साधना!'

साधना ने धीरे से अपना दाहिना हाथ उठाया, और कमल के गले में डालकर कहा—'क्या प्रतिमा आज अभी नही आई?'

साधना की बात समाप्त ही हो पाई थी, कि प्रतिमा ने कमरे मे प्रवेश किया। प्रतिमा कमल के पास ही एक कुर्सी पर बैठ गई। साधना ने अपनी उज्वल आँखो से एक बार प्रतिमा की ओर देखा, और फिर कमल की ओर। उसने धीरे से अपना हाथ आगे बढाया। उसमे पहले कमल का हाथ लिया, और फिर प्रतिमा का। वह दोनो का हाथ अपने हाथ में लेकर टूटे हुए स्वर मे बोल उठी— 'कमल और प्रतिमा, मेरे पश्चात् तुम ·· दो ···।'

साधना का स्वर बीच मे ही टूट पड़ा। कमल टूटे कण्ठ से 'साधना' कहकर उसके वक्षःस्थल पर गिर पड़ा। प्रतिमा ने जब उसे

चाँदी के टुकड़े

सन्ध्या का समय था। सूर्य पश्चिम की गोद मे झिलमिला रहा था। निरञ्जन आफिस से लौटकर जब अपने घर आया, तब उसकी माँ, जयन्ती अपने पूर्वाभ्यास के कारण बोल उठी—'आज पाँच तारीख है। तनख्वाह मिली बेटा !'

निरञ्जन ने 'हूँ' कहा, और वह अपनी स्त्री रम्भा के कमरे मे चला गया। जयन्ती के हृदय को एक आघात-सा लगा, और वह विस्मय-मुद्रा से निरञ्जन की ओर देखने लगी। पर निरञ्जन ने उसकी ओर दृष्टिपात तक न किया। जयन्ती सोचने लगी—यहाँ पाँच तारीख की संध्या है। निरञ्जन आफिस से लौट कर उसीके पास बैठता था, और जेब से पूरी तनख्वाह निकाल कर उसके अञ्चल में डाल देता था। वह चाहे जो करती थी, निरञ्जन उससे पूछता तक न था, कि तुमने कहाँ और किस प्रकार रुपये खर्च किये। पर आज निरञ्जन ने उसकी ओर देखा तक नहीं। उसने पूछा तो वह केवल 'हूँ' करके रह गया। पर यह क्यों ? कहीं रम्भा ने निरञ्जन के मन में विष तो नही घोल दिया। अवश्य, नही तो निरञ्जन ऐसा सीधा लड़का अपनी माँ के साथ कदापि ऐसा व्यवहार न करता !'

जयन्ती के हृदय में भावों का द्वन्द उठ कर खड़ा हो गया; और वह विस्फारित्र नेत्रों से निरञ्जन की ओर देखने लगी। निरञ्जन रम्भा के कमरे में प्रवेश कर चुका था। जयन्ती निराशा से आहत-सी होकर उठी और अपने कमरे में चारपाई पर जाकर लेट गई। पर निरञ्जन के हृदय में तो उल्लास था। इधर जब से रम्भा ने निरञ्जन के जीवन में प्रवेश किया है, निरञ्जन का मन दिन रात

उल्लास के चक्रपर नाचा करता था। उसे ऐसा लगता था, मानों सारा विश्व ही स्वर्णिम हो गया हैं। रम्भा का रूप और उसका यौवन ! दोनों ने निरञ्जन के मन में एक उन्मादक रस घोल दिया था, और निरञ्जन उसीके वशीभूत हो दिन-रात नाचा करता था। निरञ्जन के पास जो कुछ था, वह उसे रम्भा को सौंप चुका था। मन ही मन वह यह भी सोच चुका था कि अब वह अपनी तनख्वाह रम्भा को ही दिया करेगा। और जब उसकी माँ जयन्ती इस सम्बन्ध मे उससे पूछेगी, तो वह कह देगा कि अब वह वृद्ध हो गई है, गृहस्थी के माया जाल से अवकाश ग्रहण करे। निरञ्जन मन ही मन यह सोच कर हर्षित भी हो रहा था कि रम्भा को जब वह अपनी तनख्वाह लाकर देगा, तो रम्भा हर्ष से फूली न समायेगी, और इसी लिए निरञ्जन उस दिन की आकुलता से प्रतीक्षा कर रहा था, जब उसे तनख्वाह मिलेगी, वह रम्भा को लाकर देगा, और रम्भा उन्माद से मुसुकुरा उठेगी।

प्रतीची के अधरों पर सूर्य की थकी हुई किरणे खेल रही थीं; और उनका एक क्षीण उल्लास, एक क्षीण प्रकाश रेखा के रूप में न जाने कहाँ से आकर रम्भा के कक्ष मे झिलमिला रहा था। निरञ्जन ने उसी प्रकाश-रेखा की झिलमिलाहट मे रम्भा को देखा, जो खिड़की के पास बिछे हुए पलँग पर बैठकर कोई पुस्तक पढ रही थी। निरञ्जन को ऐसा लगा, मानो रम्भा स्वर्ग की कोई प्रतिमा हो, और इसी लिए सूर्य की वह प्रकाश-रेखा उसे स्पर्श करने के लिए रह रहकर लरज रही है।

निरञ्जन को देखते ही रम्भा पलँग से उठकर खड़ी होने का प्रयत्न करने लगी, पर निरञ्जन ने उसके समीप पहुँच कर उसे पकड़ लिया, और उसे पुनः पलँग पर बैठालता हुआ वह बोल उठा—'इस बनावट की क्या आवश्यकता है रम्भा! बैठो, बैठो !!'

निरंजन ने रम्भा का कन्धा पकड कर नीचे की ओर दबाया,

और वह स्वयं भी रम्भा के बैठने के साथ ही साथ रम्भा की बगल में पलँग पर बैठ गया। निरंजन कुछ देर तक रम्भा की आकृति की ओर मौन दृष्टि से देखता रहा, फिर मादक स्वर मे बोल उठा—रम्भा!

रम्भा ने निरंजन की ओर देखा। निरंजन को ऐसा लगा, मानों उसका सम्पूर्ण अभ्यन्तर ही किसी उन्मादक रस से अभिषिक्त हो उठा है। निरंजन और भी अधिक रम्भा की ओर खिसकता हुआ बोल उठा—रम्भा!

रम्भा अपने को अलग करने का कृत्रिम प्रयास करती हुई बोल उठी—'जाने दीजिये, आपके लिए जलपान लाऊँ।'

नही रम्भा—निरंजन बोल उठा—'जलपान की आवश्यकता नहीं! आफिस से जब चलता हूँ, तब भूख प्यास अवश्य लगी रहती है, पर घर आकर जब तुम्हें देखता हूँ, तब न जाने वह कहाँ अदृश्य हो जाती है। तुम अद्भुत संतृप्ति हो रम्भा, बड़ी अद्भुत!'

रम्भा ने कुछ उत्तर न दिया। उसने केवल एक बार निरजन की ओर देख कर अपना सिर नत कर लिया। ऐसा लगा, जैसे निरंजन ने उसके सोन्दर्य की जो प्रशसा की, उससे रम्भा अधिक लज्जालु हो उठी हो! निरंजन कुछ क्षण तक रम्भा की उस आकृति को, जिस पर लज्जालुता खेल रही थी, बड़े ध्यान से देखता रहा, फिर जेब से कुछ नोट निकाल कर उसकी ओर देखता ही देखता बोल उठा—'रम्भा, यह देखो!'

रम्भा ने दृष्टि उठा कर उन नोटो की ओर देखा, और नोटों की ओर देखते ही देखते वह मन्द स्वरमे बोल उठी—तो मै क्या करूँ?

पगली कही की!—निरंजन ने हँसते हुये कहा—आज से तुम अपने को इनकी मालकिनी समझो!

और निरंजन ने हाथ आगे बढाकर सभी नोट रंभा के हाथ पर रख दिये। रंभा ने विस्मित होकर निरंजन की ओर देखा। निरंजन

बोल उठा--हाँ, रंभा मै सच कह रहा हूँ। अब घर का सारा प्रबन्ध तुम्हारे ही हाथो में रहेगा।

रंभा के मुख से शब्द तो कुछ न निकले, किन्तु उसके हृदय में एक हलचल अवश्य उत्पन्न हो उठी। एकबार उसने सोचा, कि वह वह नोटों को लौटाल दे; और निरंजन से कहे, कि वह उन्हें लेजाकर माता जी को दे दे, पर बात ओठों पर आते आते रुक गई। यद्यपि उन नोटो को लेने में रंभा के हाथ में सक्रियता रच मात्र भी नहीं थी, पर उसके अस्वीकार के लिये उसके ओष्ठों पर शक्ति भी नहीं थी। रंभा प्रतिमा की भाँति चुपचाप बैठी रही। निरंजन ने उसके इस मौन का रूप अपने हृदय के दर्पण में ही देखा। निरंजन कुसुम की भाँति खिलकर हँस उठा; और उसने रंभा के गले में अपना दोनों हाथ डालकर एकबार जोर से उसे दबाकर छोड़ दिया।

निरंजन पलँग से जब उठा, तब वह जैसे प्रसन्नता के रथ पर आरूढ था, किन्तु जब रंभा पलँग से उठी; तब ऐसा ज्ञात होता था, मानों वह विचारों के द्वन्द के कारण स्तब्ध बनकर मूक बन गई हो।

[२]

रात्रिका समय था। जयन्ती अपने कमरे में चारपाई पर लेटी हुई थी, पर उसकी आँखों में निद्रा नहीं थी। जैसे, निद्रा और उसकी आँखोंके मध्यमें कोई गहरा व्यवधान पड़ गया हो। वास्तव में उसकी आँखों और निद्रा के मध्यमें व्यवधान ही पड़ गया था; और वह व्यवधान था, निरंजन का वेतन. निरंजन ने जब अपनी तनख्वाह जयन्ती को न दिया, तब जयन्ती ने स्पष्ट रूपसे कहा तो कुछ नहीं, किन्तु उसके अंस्तस्तल में चिन्तायुक्त विचारों की एक आँधी दौड़ गई। रातमें जयन्ती जब चारपाई पर लेटी, तब इस आँधी ने एकान्त पाकर और भी अधिक विकट रूप धारण कर लिया। जयन्ती अपने मनकी उस आँधी के साथ उड़ती हुई सोचने लगीः—

'निरंजन ! निरंजन ने अपनी तनख्वाह मुझे नहीं दी। अवश्य रंभाने उसके मनके भीतर विष घोल दिया है ! यह रंभा ! यह निरं-जन को अपने वश में करके मुझे इस घर में दासी की तरह रखना चाहती है। पर इस रंभा का निरंजन पर क्या अधिकार है ? अभी यह कल्ह आई है; और मैंने निरंजनको जन्म दिया है, उसे पाल पोस कर बड़ा किया है, पढ़ाया है, लिखाया है। निरंजन मेरा है, और उसपर मेरा ही अधिकार है। मै अपने रहते हुये रंभाकी एक भी न चलने दूँगी ? एक भी न चलने दूंगी।'

जयन्तीके मनमें मातृत्वका गर्व नाच उठा, और उसने मन ही मन अपने पदकी रक्षा के लिये दृढ़ संकल्प कर लिया। जयन्ती रात भर बड़ी देर तक जागती रही। रातको वह कब सोई, जयन्ती-को इसका पता भी न चला। सबेरे भी वह बड़ी देर तक चारपाई पर पड़ी रही। जब चारपाईसे उठी, तब उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो उसका हृदय ईर्षाकी आगसे जल रहा है। उसने रंभाकी ओर दृष्टि उठाकर देखा तक नही। रभाने दो-तीन बार जयन्तीसे बोलनेका प्रयत्न किया, किन्तु जयन्तीने कुछ उत्तर ही न दिया। रंभा समझ गई, कि उसकी सास जयन्ती उससे क्यों असन्तुष्ट है, पर निरंजनने कुछ न समझा; या यह कहना चाहिये, कि उसने समझनेका प्रयत्न ही नही किया। वह अपने दैनिक कार्य क्रमके अनुसार खा-पीकर आफिस चला गया, पर जयन्ती और रंभाके मनमें जो काँटा चुभ गया, उससे वे दोनों ही भीतर ही भीतर विकल होने लगी।

निरंजन ने रंभाको जब अपनी तनख्वाह दी, तब उससे रंभा के मनमे द्वन्द अवश्य उत्पन्न हो गया, पर वह द्वन्द ऐसा द्वन्द नही था, जो रंभाके हृदय-समुद्रमे चिन्ताकी तरंगे उठाता, किन्तु जब जयन्तीने केवल उतनेसे ही अपने मनके भाव परिवर्तित कर दिये, तब रंभाके मनमे भी क्षोभकी एक क्षीण रेखा अंकित हो उठी। रंभाने प्रतिदिन

की ही भाँति काम काज उस दिन भी किये, पर उसकी आकृति पर स्पष्टतः चिन्ता खेल रही थी; और कभी-कभी वह चिन्ताके साथ जयन्तीके सम्बन्धमें सोच भी जाती थी, कि "इनको इतना भी सब्र नही हुआ। मुझे पराई समझती है, तभी तो!" दो-एक बार निरंजनने रंभासे उसकी चिन्ताका कारण पूछा भी, पर रंभाने 'कुछ नहीं' कहकर टाल दिया। निरंजन जब खा-पीकर आफिस चला गया, तब रंभाके मनका क्षोभ और भी अधिक बढ गया। वह बढता न, यदि जयन्ती रंभाके दो-तीन बार बुलाने पर भी भोजन करनेसे अस्वीकार न कर देती। रंभा भी बिना भोजन किये ही लेट रही। यद्यपि भोजन न करने के कारण रंभाका शरीर थाड़ो ही देरमें अवसन्न हो गया, पर उसका मन अधिक क्रियाशील था। निरंजनके वेतनके प्रति उसके मनमें रंचमात्र भी मोह न था, पर जयन्तीने उस वेतनके लिये जो आग सुलगा दी थी, उसका धुआँ रंभाके मनमें भी प्रविष्ट हो गया था, और वह इस प्रकार उसके हृदयके भीतर मँडरा रहा था, मानो वह वहीं उत्पन्न हुआ हो।

सन्ध्याके पाँच बज रहे थे। बाहर बड़ी चहल-पहल थी, पर निरंजनके घरके भीतर जैसे विचित्र सन्नाटा-सा छाया हुआ था। ऐसा लगता था, जैसे घरमें कोई है ही नही। सबेरे की चीज सन्ध्यामें भी अपने स्थान पर पड़ी थी। चौकेके पास भोजन ढँका हुआ पात्रमें रक्खा था, जिसपर मक्खियाँ बड़ी स्वतंत्रता से उड़-बैठ रही थीं। निरंजनने आफिससे लौटकर जब अपने घरमें प्रवेश किया, तब एकबार उसने अपनी माँको पुकारा, और फिर रंभाको। पर निरंजनको किसी ओरसे कुछभी उत्तर न मिला। निरंजनने रंभाके कक्ष की ओर बढते हुये एकबार घरमें फैली हुई स्तब्धताको भी देखा और इसमें सन्देह नही, कि उससे निरंजनकी आँखोंके सामने आशंकाका एक चित्रभी अंकित हो उठा, पर निरंजनके आंतरि-

आवेश के कारण वह चित्र शीघ्र ही मिट भी गया, और निरंजन रंभा के कक्ष में जा पहुँचा।

कक्षमें पहुँचकर निरंजन ने एकबार इधर-उधर देखा, और फिर वह अपने हाथकी फाइल मेज पर रखता हुआ बोल उठा—रंभा!

रंभा कक्ष के भीतर पलँग पर लेटी हुई थी। उसका मुख नीचे, तकिये के ऊपर था। रंभा ने निरंजन की वाणी सुनी अवश्य, पर वह चुप रही। निरंजनके हृदयको आशंका ने एक धक्का-सा दिया। निरंजन भीतर ही भीतर उस धक्के की चोट से तिलमिला-सा उठा। वह कुछ देर तक मेजके पास खड़ा-खड़ा रंभाकी ओर देखता हुआ सोचता रहा; और फिर रंभा के पास जाकर बैठ गया। उसने दोनों हाथों से पकड़कर रंभाके मुखको ऊपर किया। रंभाकी आकृति पर उदासीनता खेल रही थी, जो ऐसी लगती थी, मानो करुणा के आंशिक स्पर्श से ही द्रवित हो उठेगी!

निरंजन ने एकबार रंभा के विषाद पूर्ण मुखकी ओर देखा, और फिर वह उसकी ओर देखते ही देखते बोल उठा—क्या बात है रानी!

जिस प्रकार आर्द्र हवा के स्पर्शसे नीरके वैभव से लदी हुई बदली थलथलाकर हिल उठती है, और छोटी-छोटी जल-बूँदोंके रूपमें अपना रोमांच प्रगट करने लगती है, ठीक उसी प्रकार निरंजनकी खेद पूर्ण वाणी ने रंभा के मन के विषाद को छूकर पिघला दिया। रंभा के नेत्रों से अश्रु-बूँदों की लड़ी चल पड़ी और वह निरंजन के करतल पर इस प्रकार गिरने लगी, मानों मौन रूप में कह रही हो, कि वही उनका एक मात्र आधार है। निरंजन के मन में विस्मय भी हुआ और दुख भी। वह विस्मय और दुःख के ही स्वर में बोल उठा—आखिर बात क्या है रंभा?

रंभा फिर भी मौन ही रही। रंभा के इस मौन ने निरंजन के हृदय को कंपित कर दिया। यद्यपि वास्तविकता का चित्र निरंजन

की आँखों के सामने अंकित न हो सका, पर रंभा के मौन और उसकी अश्रु लड़ियों से निरंजन इतना तो जान ही गया, कि रंभा के विषाद का संबंध उसकी माँ जयन्ती से है। निरंजन ने कुछ दुखी होकर पुनः रंभा के स्कन्ध को पकड़ कर हिलाया, और दुख पूर्ण स्वर में कहा--मुझे भी न बताओगी रंभा! तुम यहाँ पलँग पर पड़ी रो रही हो, और माँ का कहीं पता नहीं है।

रंभा ने सिर ऊपर उठाकर निरंजन की ओर देखा। निरंजन को आँसुओं से धुली हुई रंभा की आकृति बड़ी भली ज्ञात हुई। निरंजन रंभा की ओर देखने लगा, और रंभा एकबार निरंजन की ओर देख कर, पुनः सिरनत कर बोल उठी--आप मुझे मेरे मैके पहुँचा दीजिये।

मैके पहुँचा दूँ!--निरंजन विस्मय पूर्ण स्वर में बोल उठा--आखिर बात क्या हुई, जो तुम इस प्रकार रो रही हो, और मैके पहुँचाने के लिये कह रही हो।

बात क्या हुई!--रंभा बोल उठी--यह सब आपने किया। न आप मुझे अपनी तनख्वाह लाकर देते; और न आज घर में यह उपद्रव खड़ा होता। पूरा दिन बीत गया, और अभी तक ......।

रंभा की वेदना पुनः बिखर पड़ी, और वह फिसल फिसल कर नेत्रों की राह से गिरने लगी। निरंजन का हृदय एक अज्ञात भाव से झनझना-सा उठा। उसे भीतर ही भीतर जयन्ती के इस व्यवहार से बड़ी ग्लानि हुई, और साथ ही कुछ कुछ क्रोध भी। निरंजन आवेग में उठा, और रंभा के कक्ष से बाहर निकलने लगा।

ड्योढ़ी पर पहुँच कर निरंजन को यह देख कर अधिक विस्मय हुआ, कि जयन्ती दीवाल के पास खड़ी खड़ी रंभा और निरंजन की बातें सुन रही थी। निरंजन को देखकर जब वह वहाँ से हट कर अपने कमरे की ओर जाने लगी, तब निरंजन कुछ क्रोध के स्वर में बोल उठा--यह क्या उपद्रव मचा रखा है माँ!

जयन्ती का हृदय अधिकार की भावना से ओत-प्रोत था। उसकी समझ में उसका जो अधिकार खो गया था, उसे पुनः प्राप्त करने के लिए वह कटिबद्ध-सी थी। निरंजन की बात सुनकर उसने एक बार निरंजन की ओर देखा ; और फिर क्रोधपूर्ण स्वर में बोल उठी—'हाँ, मैंने ही तो उपद्रव मचा रखा है, और बहू तुम्हारी बड़ी सीधी है। उससे कह न दो, और भी अधिक आग तुम्हारे हृदय में पैदा कर दे। अभी कल्ह आई है और मुझी पर शासन करने चली है।'

निरंजन के हृदय में एक आँधी-सी चल पड़ी। उसका शरीर और मन दोनों ही शुष्क पत्र की भाँति काँप उठा। यद्यपि जयन्ती ने वेतन के सम्बन्ध मे स्पष्ट रूप से कुछ भी न कहा, पर उसने 'शासन करने की बात' कहकर उसकी ओर संकेत तो कर ही दिया। निरंजन के हृदय के कोने कोने से दुःख का एक अन्धड़, जिसमें आवेग भी था, उठा और उठकर चारों ओर मँडराने लगा। निरंजन कुछ क्षणों के लिए अपने को भूल-सा गया। वह आवेग में ही रम्भा के कमरे की ओर झुका, और कमरे में पहुँच कर कुछ कठोर स्वर मे बोल उठा—'कल्ह के नोट कहाँ रक्खे है ?'

रम्भा ने निरंजन की ओर देखा। निरंजन की आकृति पर विकृत क्रोध नृत्य कर रहा था। रम्भा का हृदय काँप उठा, और मन ही मन उसके हृदय मे पश्चात्ताप भी दौड़ उठा। वह मन ही मन सोचने लगी, कि अब निरंजन को किस प्रकार शान्त करे ? रम्भा अभी सोच ही रही थी, कि निरंजन पुनः बोल उठा—'मै पूछता हूँ रम्भा, कल्ह के नोट कहाँ रक्खे हुए है ?'

निरंजन की यह वाणी पहले से कुछ अधिक कठोर थी। यद्यपि उसकी कठोरता मे रम्भा के प्रति दुर्भावना रञ्च मात्र भी नही थी, पर रम्भा के क्षोभित हृदय को उससे एक आघात अवश्य लगा ; और इसके प्रतिफल स्वरूप उसके हृदय पर पश्चात्ताप की जो रेखा खीच

उठी थी, वह धुँधली होकर मिट गई। रम्भा खीझ भरे स्वर में बोल उठी—'नोट क्या मै लिये हुए हूँ। बाक्स में तो रक्खे हैं!'

निरंजन ने आगे बढकर बाक्स खोला, और नोट हाथ में लेकर वह आवेग में ही फिर पीछे की ओर लौट पड़ा। रम्भा जो अभी तक पलॅग पर बैठी थी, आशंका से उठकर खडी हो गई, और निरंजन के साथ ही साथ कमरे से निकलकर ड्योढी तक आई। उसके मन ने उसे प्रोत्साहित किया, कि वह आगे बढकर निरंजन को पकड़ ले! रम्भा इसके लिए आगे बढी भी; पर निरंजन इसके पूर्व ही उसकी पकड़ के बाहर निकल गया था। रम्भा हताश और किंकर्तव्य विमूढ-सी होकर ड्योढ़ी पर खड़ी हो गई, और निरंजन आवेग में ऑगन में जयन्ती के समीप जा पहुँचा। वह दूर से ही हाथ के नोटों को जयन्ती के ऊपर फेंककर कर्कशता से बोल उठा—'लो, अब शांत हो!'

जयन्ती के हृदय में जो आग जल रही थी, वह निरंजन के इस व्यवहार से और भी अधिक भडक उठी। जयन्ती नोटों को निरंजन की ओर फेंककर जोर से बोल उठी—'मै क्या इन्हें लेकर अपने को जलाऊँगी?'

निरंजन ने जयन्ती की बात सुनी अवश्य, पर उसका हृदय इतना आवेगपूर्ण था, कि उसने जयन्ती की ओर दृष्टिपात तक न किया। वह जयन्ती के ऊपर नोट बिखेरकर घर से बाहर निकल गया। यदि निरंजन वहाँ होता, तो हो सकता है, कि जयन्ती के मन की प्रज्वलित आग शान्त न होती, और वाणी के रूप में उसके जलते हुए हृदय के भीतर से और भी अधिक चिनगारियाँ निकलती, पर निरंजन घर के बाहर चला गया था। जयन्ती ने भी उसे जाते हुए देखा, एक बार जयन्ती की दृष्टि रम्भा पर भी पड़ी, जो ड्योढ़ी पर चुपचाप खड़ी थी। एक बार जयन्ती के मन में यह भी आया कि वह अपने भीतर की चिनगारियों को रम्भा के ही

ऊपर उँड़ेले, पर कठिनाई यह थी कि रम्भा मौन थी। जयन्ती अपने कमरे में चारपाई पर जाकर पड़ रही; पर रम्भा देर तक किंकर्तव्य विमूढ-सी बनकर ड्योढीपर खड़ी रही। उसके सामने आँगन में बिखरे हुए कागज के टुकड़े हवा से हिल रहे थे, पर उनसे तो अधिक हिल रहा था, रम्भा, जयन्ती और निरंजन का मन। हो सकता है, हिलते हुए वे पत्र-खण्ड रम्भा, जयन्ती, और निरंजन के उस मन के चिह्नमात्र हों, जो भावो के द्वन्द के कारण भीतर ही भीतर अधिक समाकुल हो रहा था।

[२]

आग की चिनगारी देखने में बहुत ही लघु होती है, पर यदि कहीं वही घास के ऊँचे अम्बार पर गिर पड़े तो निश्चय है कि वह उसे जलाकर राख के रूप मे परिवर्तित कर दे। मनुष्य का मन भी घास के अंबार ही सरीखा है। दधीचि की हड्डियों का बना हुआ इन्द्र का वज्र भले ही मनुष्य के मन को मारने में दो खंड हो जाय, पर एक छोटी सी बात तो उसे घास के अंबार की ही भाँति जला कर भस्म कर देती है। जयन्ती, रंभा और निरंजन के मन में भी, जब यह छोटी सी बात आग की चिनगारी बनकर घुसी तो मन के भीतर जो दया, स्नेह और सौहार्द्र का अंबार था, उसने उसे घास-फूस के अंबार की ही भाँति जलाकर भस्म कर दिया। तीनों का मन अब हो गया, एक ऐसा विस्तृत रेगिस्तान, जो दिन रात अपने भीतर की उष्णता से जला करता है, और जिसके ऊपर दिन-रात आकुलता की गरम-गरम आँधियाँ दौड़ा करती है।

निरंजन, रंभा और जयन्ती तीनों का मन रेगिस्तान की ही भाँति सदैव उष्ण रहता था। तीनों के मन में जब ईर्षा की भावना उत्पन्न हुई, तब वह आग की लपट की भाँति बराबर बढती ही गई। निरं-

जन ईर्षा की इस आग को शान्त करने का प्रयत्न अवश्य करता था; पर रंभा और जयन्ती दोनों इस ओर से बिलकुल उदासीन-सी थी; और यही कारण था, कि आये दिन दोनों में कहा-सुनी होती ही रहती थी। जब तक रंभा में कुछ झिझक थी; दोनो की कहा-सुनी घर की दीवालों के भीतर ही रह जाती थी; किन्तु जब उसके मन की झिझक निकल गई और जयन्ती के स्वर में वह भी स्वर मिलाने लगी; तो जयन्ती के भीतर की आग में जैसे आहुति-सी पड़ गई; और फिर उसके मन का विस्फोट प्रबल-अधिक प्रबलतर रूप में होने लगा।

जयन्ती और रंभा में जब कहा-सुनी होती, और दोनों ही जब कोप की रानी बनकर अपनी-अपनी चारपाई पर लेट जाती, तब निरंजन ही दोनों को समझाने का प्रयत्न करता। दोनों की पारस्परिक कहा-सुनी पर कभी-कभी निरंजन के मन में भी क्रोध उत्पन्न हो जाता, और जब क्रोध उत्पन्न हो जाता; तब निरंजन भी उन दोनों के साथ ही उन्हीं की राह पर चलने से अपने को रोक न सकता, पर निरजनको क्रोध के स्थान पर दुःख ही अधिक हुआ करता था। कभी वह दुखी होकर मन ही मन अपनी माँ, जयन्ती के ऊपर कुपित होता, और कभी-कभी रंभा के ऊपर भी! पर प्रगट रूप से किसी को वह कुछ न कह सकता। क्योंकि उसकी स्थिति बड़ी दयनीय थी।

निरंजन कभी कभी ऊब कर अपने घर के भीतर जलती हुई इस आग पर भी विचार करता, और उस आग को शान्त करने के लिये मन ही मन उपाय भी खोजता; पर निरंजन को उपाय मिले तो कहाँ से मिले? क्योंकि उस आग के प्रज्वलित होने का कोई ठोस कारण तो था नही! निरंजन के वेतन को लेकर पहले पहले उसकी माँ, जयन्ती के मन के भीतर जो आग जली थी, निरंजन ने अपनी समझ में उसे बुझा दिया था। पहले 'निरंजन इस पक्ष में अवश्य था, कि रंभा ही उसके वेतन की मालकिनि बने, और इसके लिये निरंजन ने

यथाशक्ति जयन्ती को दबाया भी, पर जब जयन्ती की उग्रता केवल इसी बात को लेकर बराबर बढती ही गई, तब निरंजन ने दोनों में से किसी को अपना वेतन न देकर उसे अपने ही पास रखने का निर्णय किया। निरंजन ने समझा उसके इस निर्णय से जयन्ती के मन की आग बुझ गई, पर जब वह जली; तो घटने के स्थान पर बराबर बढ़ती ही गई; और फिर इतना बढ़ गई, कि रंभा का हृदय भी उससे अधिक उष्ण हो उठा।

दोपहर का समय था। निरंजन अपने आफिस में काम कर रहा था। पर उसका मन कुछ उचटा-सा हुआ था। ऐसा लगता था, जैसे उसके हृदय के भीतर कोई काँटा हो। सचमुच निरंजन के हृदय के भीतर एक काँटा था। आज सबेरे ही सवेरे रंभा और जयन्ती में कुछ खट पट हो गई थी। यद्यपि निरंजन दोनों को ही समझा-बुझा कर आफिस आया था, पर न जाने क्यों निरजन का हृदय रह-रहकर पत्तो की भाँति काँप उठता था। और वह रह-रहकर सामने दीवाल पर टँगी हुई घडी की ओर देख उठता था। कई बार निरंजन के मन में यह भी आया, कि वह छुट्टी लेकर घर चला जाय; पर छुट्टी लेने का उसका साहस न हुआ; क्योंकि वह प्रायः छुट्टी लिया करता था; और आज जब देर से आफिस मे आया था, तो आफिस के प्रधान की उसे फटकार सुननी पड़ी थी। निरजन अनिच्छित मन से अपने काम मे जुटा हुआ था।

सहसा निरजन के कानों में स्व पडा—'निरंजन बाबू!' निरंजन ने सिर ऊपर उठा कर देखा, उसके पडोस का एक युवक था। निरंजन कुर्सी पर बैठे ही बैठे बोल उठा—कहो रमेश, क्या बात है?

युवक का नाम रमेश था। वह अपने स्थान से ही निरंजन की ओर देखता हुआ बोल उठा–आप से कुछ कहना है, यहाँ आइये।

निरंजन कुर्सी से उठ कर रमेश के पास गया, और रमेश उसे

लेकर कमरे से बाहर निकल कर बात करने लगा। रमेश ने निरंजन से क्या और किन शब्दों में कहा, कह नहीं सकते; पर जो कुछ रमेश ने निरंजन से कहा, उससे निरंजन के हृदय पर एक तुहिन-सा गिर पड़ा; और वह चेतना-हीन सा बन गया। वह अपनी उसी अवस्था में खड़ा-खड़ा रमेश की बात सुनता रहा; और जब वह कह चुका, तब निरंजन बहुत ही शान्त और मन्द स्वर में बोल उठा—तुम चलो रमेश, मै अभी आ रहा हूँ।

रमेश पीछे की ओर लौट पड़ा, पर निरंजन कुछ देर तक खड़ा-खड़ा सोचता रहा। उसने एक बार अपने आफिस की ओर देखा; और फिर अपने घर की ओर। निरंजन को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों दोनो ही दिशाएँ उस पर घृणा की वर्षा कर रही हों! निरंजन एक ओर को चल पड़ा। कहाँ और किस स्थान के लिये, यह तो कदाचित् निरंजन की चेतना को भी अज्ञात था।

× × × ×

रात्रि के दस रहे थे। हर एक मनुष्य के घर में दीपक जल-जल कर बुझ गये थे; पर निरंजन के घर मे आज दीपक जला ही नही! सन्ध्या के पश्चात् जब रजनी ने अपने अंधकार का जाल जगत के साथ ही साथ निरंजन के घर मे भी बिछाया, तब वह जगत की अपेक्षा निरंजन के घर मे थोड़ी ही देर में अधिक भय पूर्ण बन गया! रंभा और जयन्ती, दोनो ही अपने अपने कमरे में पड़ी थी। घर की उस स्तब्धता में अंधकार बड़े आराम से पैर फैला कर सोया हुआ था, और बड़ी शान्ति के साथ अपनी भयानक बीन बजा रहा था।

जयन्ती और रंभा, दोनों ही दोपहर से ही अपने-अपने कमरे में पड़ी हुई थीं। यद्यपि दोनों का ही हृदय जल रहा था, पर दोनों को ही निरंजन की प्रतीक्षा थी। रमेश ने निरंजन के आफिस से लौट कर जयन्ती को यह खबर दी थी, कि निरंजन बाबू आ रहे है,

पर जब रात्रि के दस बज जाने पर भी निरंजन आफिस से घर न आया, तो जयन्ती और रंभा दोनों का ही तप्त हृदय जैसे ठढा सा हो गया था। दिन में निरंजन की प्रतीक्षा में जहां दोनो के हृदय में विविध भावों की आँधियाँ चल रही थीं, वहाँ अब निरंजन के न आने पर उनका स्थान आशंका ने ले लिया ! जयन्ती और रंभा, दोनो ही अपने कमरे में पडी-पड़ी निरंजन के लिये आकुल होने लगी, और जब आकुलता अधिक बढ़ गई, तब दोनों ही अपने अपने कमरे से निकलीं और अंधकार में आकर खड़ी हो गई।

आँगन मे अंधकार अपने पूर्ण यौवन पर था। घर की स्तब्धता ने उसका और भी अधिक अभिसार कर रक्खा था। रंभा ने अपने कमरे से निकल कर अधकार मे एक काली मूर्ति को देखा, ठीक ऐसी ही मूर्ति जयन्ती को भी दिखाई पड़ी। दोनो के रोंगटे भय से खड़े हो गये। उसी समय पास के पेड़ से एक उल्लू बोल उठा—घू घू घू ...

जयन्ती और रभा, दोनों ही चीखकर अधकार की गोद मे गिर पड़ी ! प्रभात मे जब सूर्य की सुनहली किरणे निकलीं; तब किसी ने जोर-जोर से किवाड़ पर धक्का दे देकर दोनों की मूर्च्छना को भंग कर दिया। जयन्तीने टूटे हुये मन से उठकर किवाड़ खोल दिये। द्वार पर वही पडोस का रमेश था। जयन्ती को देख कर वह दुख से बोल उठा–निरजन बाबू रेल से ...।

जयन्ती चीखकर ड्योढी पर गिर पड़ी। यद्यपि रंभा को जयन्ती के चीख कर गिरने का कारण ज्ञात न था, पर उसके हृदय में आशका की जो आँधी चल रही थी, उसने झट उसकी आँखों के सामने एक चित्र अंकित कर दिया, और जयन्ती के साथ ही साथ वह भी चीत्कार कर उठी! दोनो की वह चीत्कार! आकाश भी मौन रूप में उस पर व्यग्य कर रहा था।

उस दिन सन्ध्या समय जब उस नगर के समाचार निकले, तब उनमें मुख पृष्ठ पर बड़े-बड़े अक्षरों मे लिखा था, "घरेलू झगड़े के कारण युवक ने आत्म हत्या की।"

भूला हुआ राही

"सट्ट सट्ट"

अर्चना जोर से चीख उठी।

मोहिनी, जो अपने कमरे में किसी काम में संलग्न थी, बाहर निकल आई और कमरे की ड्योढ़ी पर खड़ी होकर बोल उठी--क्यों मारती हो बहू !

क्यों मारती हो बहू--बहू ने मोहिनी की बात को व्यंग्य पूर्वक दुहराते हुए क्रोध के साथ कहा--जरा सा मार दिया तो बहुत बुरा लग गया। यह नहीं देखतीं, कि इसने घी का डिब्बा गिराकर कितना नुकसान कर दिया।

तुम तो सीधी बात में भी बिगड़ जाती हो बहू--मोहिनी बोल उठी--आखिर उसने कुछ जान-बूझ कर तो गिरा न दिया होगा। अभी वह नादान है। तुम्हें उसकी भूलों पर इस प्रकार कुपित न होना चाहिये।

हाँ जी वह नादान है; और तुम सब नादान हो--बहू ने अपने मुख की मुद्रा को बिगाड़कर कहा--पर यह तो मुझसे न देखा जायगा। आज आफिससे लौटकर आते है, मै आज इसका निपटारा करके रहूँगी।

निपटारा अब क्या करोगी बहू--मोहिनी दुख पूर्वक बोल उठी--निपटारा तो बहुत पहले ही से हो चुका है। अब केवल इतना ही बाकी रह गया है, कि हम सब घर से बाहर चले जायँ।

नही जी तुम सब घर में रहो--बहू ने सक्रोध गरजकर कहा--चली तो जाऊँगी मैं, जो इस घर में सबसे बुरी है। आज यही होकर

रहेगा, जिससे तुम सबको शान्ति मिले, और तुम सब बड़े आराम से घर में पैर पसारकर सो सको।

तुम तो नाहक ही दोष देती हो बहू—मोहिनी दुख में लिपटे हुये स्वर से बोल उठी—भला मैं यह सोचकर कैसे शान्ति और सुख का अनुभव कर सकती हूँ, कि तुम इस घर से बाहर निकल जाओ। क्या तुम्हे घर से बाहर निकालने के लिये ही मैं ईश्वर से लाख-लाख दुआये माँगती थी।

कौन जाने, तुम ईश्वर से क्या माँगती थी ?—बहूने अपनी पूर्ववत वाणी मे कहा—माँगती रही होंगी दुआये, पर अब तो तुम सबने मेरी नाकों मे दम कर दिया है। और तो और, यह छोटी सी छोकड़ी भी मुझे कुछ नहीं समझती। आज निपटारा हो करके ही रहेगा।

मोहिनी का हृदय दुख से मथ उठा। उसे ऐसा लगा, मानों किसी ने उसके हृदय को पकड़कर मसल दिया हो। वह कुछ देर तक चुपचाप ड्योढ़ी पर खड़ी-खड़ी सोचती रही, फिर अपने कमरे में जाकर लेट गई। चारपाई पर लेटते ही मोहिनी की आँखों के सामने एक चित्र घूम गया। उसके जीवन के वे दिन, जब उसके पति शैलेन्द्र जीवित थे, और जब सुधाकर उसकी गोद में प्रादुर्भूत हुआ था। कितनी आशाये बाँधी थीं, दोनों ने सुधाकर के ऊपर। शैलेन्द्र तो सुधाकर के वयस्क होने के पूर्व ही संसार से कूच कर गये, पर उसकी आशाओ और आकांक्षाओ के तार बराबर दृढ ही होते गये। उसने सुधाकर को कभी किसी प्रकार का कष्ट न होने दिया। उसने स्वयं न खाया होगा, पर सुधाकर को कभी भूखा न रहने दिया होगा। उसने कपड़े न पहने होंगे, पर सुधाकर की शान कभी उसके संगी-साथियों मे धूमिल न होने पायी। यद्यपि अर्चना, और सुधाकर दोनों का ही उसके हृदय के स्नेह में सम भाग था, पर उसने बराबर सुधाकर के साथ पक्षपात ही किया। अर्चना रोती ही रह जाती थी, पर वह

सबसे पहले सुधाकर के ही नेत्रों के आँसू पोछती थी। कितनी दुआएँ माँगती थी वह सुधाकर के लिये! जब सुधाकर का विवाह नही हुआ था, तब उसके विवाह को लेकर कितनी कामनाएँ उठा करती थीं, उसके हृदय में। वह सोचती थी, सुधाकर का विवाह होगा, घर मे बहू आयेगी, और उसका अवशेष जीवन सुख-शान्ति के साथ बीतेगा, पर अब उसकी सारी आशाएँ धूलि में मिल गईं।

मोहिनी की आँखे भर आईं और इतनी भर आईं, कि आँसू की बूँदे नीचे ढुलक उठी। बहू अब भी अपने कमरे मे अपने हृदय का ताप निकाल रही थी; और अर्चना अब भी नीचे बिलख-बिलख कर रो रही थी। अर्चना के प्रति मोहिनी के हृदय मे बड़ी सहानुभूति थी; और वह जो बिलख-बिलख कर रो रही थी, उससे मोहिनी के हृदय का विषाद दूना होता जा रहा था। पर साथ ही साथ वह भीतर ही भीतर अर्चना के ऊपर खीझ भी रही थी। वह अपने सम्बन्ध में सोचती हुई उसके सम्बन्ध मे भी सोच रही थी, और यह सोच रही थी, कि जब बहू उससे घृणा करती है, तब वह क्यो उसके कमरे में जाती है। एक नही, जब कई बार हो चुका, तब उसे समझ करके चलना चाहिये। इसी की अज्ञानता से आये दिन बहू से खटपट हो जाती है। मोहिनी का हृदय अर्चना के ऊपर कुपित भी हो उठता था, और कभी वह यह भी सोच जाती, कि नीचे जाकर अर्चना का कान पकड़ कर उमेठ दे, और उसे आगे के लिये सतर्क कर दे। एक बार मोहिनी आवेग मे उठी भी, पर फिर यह सोचकर चारपाई पर बैठ गई, कि कही बहू की क्रोधाग्नि मे आहुति न पड़ जाय।

मोहिनी चुपचाप विचारो के गगन पर उड़ने का प्रयत्न कर रही थी, पर अरुणा—बहू का नाम था—मोहिनी के चुप हो जाने पर भी चुप न हो सकी। वह देर तक अपनी आपत्तियो का अपने आप ही

वर्णन करती रही, और पृथ्वी तथा आकाश के सम्मुख अपनी नेक-नीयती की सफाइयाँ देती रही। तत्पश्चात् जब चुप हुई, तब वह भी विचारों के गगन पर उड़ने लगी। विचारों के गगन पर उड़ते हुये उसके हृदय मे मोहिनी और अर्चना के प्रति बड़ी ईर्षा थी। यद्यपि वह उस ईर्षा का अपने हृदय में कोई कारण न पाती, किन्तु न जाने क्यों, उसे मोहिनी और अर्चना दोनों मे से कोई भला न ज्ञात होता। यद्यपि मोहिनी उससे सदा दबकर ही रहती; और बोलती तो ऐसा लगता मानो उसकी वाणी मृदुलता के गाले में लिपेटी हुई हो, पर अरुणा के हृदय मे उसकी वह वाणी भी कंकरीट ही के समान लगती; और जब वह उसकी उस बात का उत्तर देती, तो ऐसा लगता, मानो आघात से तिलमिलाई हुई हो। अर्चना भी अरुणा की अर्चना ही किया करती थी। वह स्नेह के कारण ही उसके समीप जाती, और उसके साथ साथ लगी रहने का प्रयत्न किया करती थी, पर न जाने क्यों अर्चना की छाया से भी अरुणा को कष्ट होता था, और यही कारण था, कि अरुणा जब अर्चना से बोलती थी, तो उसकी वाणी मे उसके हृदय की घृणा ही होती थी।

अरुणा के हृदय की वह घृणा! मोहिनी और अर्चना, दोनो के ही हृदय मे उससे दुख की झड़ी-सी लगी रहती थी। दोनों ही अपने अपने हृदय के भीतर पैठकर यह टटोलतीं, कि आखिर उनकी ऐसी कौन सी भूल है, जिससे अरुणा का हृदय घृणा को ही प्रश्रय देता है। जब उन्हें अपनी कोई भूल न ज्ञात होती, तब वे दोनों दुख का आँचल ओढकर सिसक उठतीं। कभी कभी जब अधिक विवश हो उठती; और हृदय-मंथन से समाकुल हो पड़ती, तो सुधाकर के सम्मुख जाकर मुख खोल देतीं। सुधाकर सुन करके भी कुछ न बोलता, किन्तु यदि कहीं अरुणा देख लेती तो वह वाणी की तीव्र आंधी-सी बहा दिया करती थी। यही कारण था, कि मोहिनी और अर्चना, अब दोनों ही मौन ही रहा करती थीं।

मोहिनी और अर्चना की वह मौनिमा! कौन कह सकता है, कि उसमें हृदय का कितना विषाद और कितनी विवशता छिपी रहती रही होगी। काश, सुधाकर उस मौनिमा को समझ सकता....... !

[२]

पच्चीस-छब्बीस वर्ष का युवक सुधाकर! उसकी आँखों में रूप की ही तृषा थी। वह रूप के ही पीछे दौड़ता था, और उसीके दर्पण में अपनी चेतना और मानवता का दर्शन करता था। वह अपने जीवन के कर्तव्य को रूप के काँटे पर तौलता था और उसीके अनुसार अपने हृदय की करुणा और सहानुभूति बाँटता था। जब वह युनिवर्सिटी का छात्र था; उस समय भी वह रूप के ही परिमाण पर अपने कर्तव्य के परिमाण को स्थिर करता था। जो सुन्दर होता, और बरसती होती जिसकी आकृति पर मृदुता, उसके प्रति उसके हृदय की सहानुभूति जाग उठती थी; अन्यथा दोनों हाथ जोड़ कर सहानुभूति के लिए याचना करने पर भी वह दूसरों को घृणा की कंकरीटे ही मारा करता था।

कह नहीं सकते, सुधाकर ने रूप के ही पीछे पड़कर अपने कितने कर्तव्यों का हनन किया! अविवाहित जीवन में ही प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से इस कालिमा का टीका उसके भाल पर लग चुका था। मोहिनी को इससे बड़ा दुःख होता था। वह जब कभी सुधाकर के अपयश की बात सुनती तो उसका हृदय पीड़ा से मथ उठता था, किन्तु वह यह सोच कर अपने हृदय को धीरज बँधाती थी, कि कदाचित् विवाह हो जाने पर उसकी आदत सुधर जाय, और इसीलिए उसने सुधाकर का बहुत शीघ्र विवाह भी कर दिया।

विवाह हो जाने पर सुधाकर की आदत सुधर तो गई, पर उसकी आँखों से रूप की तृषा न गई। विवाह होने के पूर्व वह जो रूप के

कॉंटे पर ही अपने कर्तव्य को तौलता था; विवाह होने के पश्चात् भी उसके कर्तव्य का निर्धारण इसी बात पर आधारित रहा। अरुणा के प्रथम दर्शन ने ही सुधाकर की चेतना को ढॅक लिया, और वह उसके रूप के समुद्र में ऐसा डूब गया, कि चेतना और मानवता को कौन कहे, स्वयं अपने को भी भूल बैठा। केवल अरुणा ही अब उसे प्रिय लगती, और उसी बात को वह सुख से सुनता, जिसे अरुणा उससे कहती। अरुणा के अतिरिक्त उसका घर में किसी और से कुछ सम्बन्ध है, या नही, इस बात को वह बहुत कम महत्व देता था। घर में उसकी वृद्धा मॉ, मोहिनी और छोटी बहन अर्चना थी, जिन्हे उसने अरुणा की कृपा के ऊपर छोड़ दिया था। अरुणा उन्हें चाहे जिस प्रकार रक्खे, इससे उससे क्या सरोकार? अरुणा यदि इन दोनो के सम्बन्ध मे कोई बात कहती, तो सुधाकर उसे बड़े ध्यान से सुनता था, और यदि कोई अरुणा के अगौरव की बात होती तो वह मोहिनी और अर्चना पर कुपित होने से भी बाज न आता था, किन्तु यदि कभी अर्चना और मोहिनी मे से कोई अरुणा के सम्बन्ध मे कुछ कहता, तो सुधाकर उसे सुनकर मौन रह जाता था, और कभी कभी उलटे उसीकी भूल निकाल कर उसे ही अपराधी भी बना दिया करता था।

अरुणा पढ़ी-लिखी तो विशेष न थी, पर उसके हृदय में अपने रूप का गर्व अवश्य था। रूप के गर्व के अतिरिक्त एक बात और भी थी, जिसपर अरुणा का मन नाचा करता था, और वह था, उसके पीहर का बड़प्पन। यद्यपि अरुणा के मॉ-बाप का घराना कुछ विशेष महत्व न रखता था, किन्तु जो कुछ था, उसपर अरुणा के लिए गर्व था। वह पीहर से चाहे और कुछ लेकर ससुराल न आई हो, पर उसके लिए यही दोनों वस्तुऍ क्या कम थीं, जिन्हें लेकर उसने सुधाकर के जीवन मे प्रवेश किया था। ये दोनों ऐसी वस्तुऍ थीं,

जिनके सम्मुख अरुणा के लिए सुधाकर का सारा घर ही हेय-सा मालूम होता था। अरुणा ने जब पहले-पहल सुधाकर की जीर्ण-शीर्ण माँ और उसकी दुबली-पतली बहन अर्चना को देखा, और मन ही मन उनसे अपनी माँ और बहन का मुकाबिला किया, तो अरुणा को आकाश-पाताल का अन्तर दृष्टिगोचर हुआ। साथ ही अरुणा के हृदय में उन दोनों के प्रति हेयता ने जन्म भी ले लिया। अरुणा की यह हेयता उस समय और भी अधिक बढ गई, जब उसने देखा कि सुधाकर उसके रूप पर पतिंगे की भाँति ही नृत्य करता है। यों तो अरुणा सुधाकर का ध्यान रखती थी, पर उसके पीहर के महत्व की ऊँचाई में वह भी उसे डूबा हुआ दृष्टिगोचर होता था। कभी जब किसी बात को लेकर सुधाकर और अरुणा में विवाद छिड़ता और सुधाकर अरुणा के पीहर की तुच्छता प्रमाणित करने का प्रयत्न करता तो अरुणा उससे भी उलझ जाती थी, और कभी कभी केवल इसी बात के लिए उसकी उपेक्षा तक कर देती थी। जब सुधाकर के ऊपर उसके हृदय की उपेक्षा बरसने से न रुकती, तो फिर मोहिनी और अर्चना की तो बात ही क्या थी?

सन्ध्या सन्निकट थी। यद्यपि अभी सूर्य का अवसान नहीं हुआ था, पर उसकी अरुणिमा अत्यधिक धूमिल हो उठी थी, और ऐसा लगता था, मानों धूम्र पयोधि में स्नान करने के पूर्व उसने अपने ऊपर मलिनता की कुछ छींटे डाल ली हों। अरुणा दिनभर तो अपने कमरे में चुपचाप पड़ी थी, पर सन्ध्या ने उसके शरीर में जैसे सक्रियता उत्पन्न कर दी। उसने पलँग पर लेटे ही लेटे एक बार दीवाल पर टँगी हुई घड़ी की ओर देखा। घड़ी अब पाँच बजाने ही वाली थी। अरुणा पलँग पर उठकर बैठ गई। कुछ देरतक इधर-उधर देखती रही। कभी उसकी दृष्टि बाक्स की ओर जाती थी, और कभी सामने अरगनी पर रखी हुई साड़ियों की ओर! अरुणा मन ही मन

कुछ सोचती हुई उठी, और अपना बाक्स उठा लाई। फिर वह अपने बाक्स में सभी वस्तुओं को इस प्रकार रखने लगी, मानों कहीं जाने की तैयारी कर रही हो।

अपने बाक्स में आवश्यक वस्तुएँ रखती हुई उसने दो-एक बार घड़ी की ओर भी देखा। घड़ी की सुइयाँ अपनी स्वाभाविक गति से गोल चक्र की परिक्रमा करने में व्यस्त थी। दो-एक बार अरुणा की दृष्टि कमरे के द्वार की ओर भी उठी। एक बार उसने अर्चना को भी देखा, जो चारों ओर स्तब्धता देखकर कौशल से यह देखने आई थी कि उसकी भाभी क्या कर रही है? यद्यपि उसके इस छिपकर देखने में कोई दुर्भावना नही थी, किन्तु जब अरुणा ने उसे देख लिया, तब अरुणा का हृदय दुर्भावना से परिपूर्ण हो उठा। वह बोली तो कुछ न, पर और भी अधिक तीव्रगति से अपना सामान ठीक करने लगी। मानों उसके उस आयोजन का सम्बन्ध अर्चना से ही हो। सचमुच उसका सम्बन्ध अर्चना और मोहिनी से ही था। अरुणा इन दोनों के लिए ही घर छोड़कर पीहर जाने की तैयारी कर रही थी, और सुधाकर की प्रतीक्षा में थी, जो अभी आफिस से लौटकर नही आया था।

अरुणा घर छोड़कर अपने पीहर जायगी, या नही, पर जब अर्चना ने उसे अपना सामान ठीक करते हुए देखा, और उसने उसकी चर्चा अपनी माँ मोहिनी से जाकर की, तब दोनों का ही हृदय पत्ते की भाँति काँप उठा। दोनो देर तक एक दूसरे की ओर देखती रहीं। हो सकता है, मोहिनी अरुणा की ड्योढी पर जाकर खड़ी हो जाती, और उससे नम्रतापूर्वक कहती—'बहू, यह क्या कर रही है? हम लोगो के लिए अपना घर छोड़ रही हो! नहीं, ऐसा न करो!' पर इसी समय उसके कानो में सुधाकर की आवाज पड़ी, जो अरुणा के कमरे मे प्रवेश कर उससे पूछ रहा था—'कहाँ जाने की तैयारी कर रही हो अरुणा?'

मोहिनी और अर्चना दोनों का ही हृदय आशंका से काँप उठा। कई बार ऐसा हो चुका था, जब अरुणा ने मोहिनी और अर्चना की शिकायत सुधाकर से की थी; और सुधाकर ने दोनों को ही बड़ी खरी-खोटी सुनाई थी। अर्चना और मोहिनी, दोनों ही सतर्क होकर बैठ गईं, और सुधाकर तथा अरुणा की बातों को सुनने का प्रयत्न करने लगी।

अरुणा ने सुधाकर की बात का कुछ उत्तर न दिया। पर उसकी कार्य-गति मे तीव्रता अवश्य आ गई। यद्यपि सुधाकर के आने के पहले ही वह अपने बाक्स मे सभी आवश्यक वस्तुऍ रखकर उसे बन्द कर चुकी थी, पर जब सुधाकर आया, तो वह फिर अपने बाक्स को खोलकर उसमें रक्खी हुई चीजों को उलटने-पुलटने लगी। सुधाकर ने उसकी इस सक्रियता को बड़े ध्यान से देखा, और वह पुनः पूछ बैठा, कहाँ जाने की तैयारी हो रही है अरुणा!

अब मै इस घरमें एक क्षण भी न रहूँगी?—अरुणा अपने वाक्स की चाभी बन्द करती हुई बोल उठी—अपना और मेरा भला चाहते हो तो मुझे इसी गाड़ी से मेरे नैहर पहुँचा दो!

सुधाकर ने अरुणा के आकृति की ओर देखा। सुधाकर को अरुणा की आकृति ऐसी ज्ञात हुई, मानों उमड़ा हुआ बादल हो। सुधाकर अरुणा की आकृति की ओर देखते ही देखते बोल उठा—आखिर बात क्या है अरुणा!

वात क्या है?—अरुणा आर्द्र कंठ से बोल उठी—तुमसे कई बार कहा, कि तुम अपनी माँ और बहन को लेकर शान्तिपूर्वक अपना जीवन बिताओ, पर तुम सुनते ही नही। उन दोनों को मेरा इस घर में रहना अच्छा नही मालूम होता! मेरे भाग्य फूट गये।

अरुणा बिलखकर रो पड़ी, और इस प्रकार रो पड़ी, मानों सच-

मुच वह अत्याचार प्रपीड़िता हो। सुधाकर ऐसे निर्बल हृदय के व्यक्ति के लिये इतना ही पर्याप्त था। वह जोर से बोल उठा—अर्चना!

अर्चना अपनी माँ, मोहिनी के साथ उसके कमरे में थी, और उसका हृदय पत्ते की भाँति काँप रहा था। मोहिनी और अर्चना, दोनों ने ही सुधाकर की बात सुनी। मोहिनी कुछ न बोली, पर अर्चना ने भय पूर्ण नेत्रों से मोहिनी की ओर देखा। मानो वह मौन रूप मे उससे पूछ रही हो, अब क्या करूँ माँ?

अर्चना अभी मोहिनी की ओर देख ही रही थी, कि सुधाकर फिर जोर से बोल उठा—अर्चना, सुनती नहीं है। मर गई या जीती है?

अर्चना ने पुनः मोहिनी की ओर देखा। मोहिनी बिगड़कर बोल उठी—जाती क्यों नही?

अर्चना भयग्रस्त सी अरुणा के द्वार पर जाकर सिर नत खड़ी हो गई, और अपने दाहिने हाथ के नाखून से बाये हाथ का नाखून कुटकने लगी। सुधाकर अर्चना को देखते ही पुन. क्रोध के स्वर मे बोल उठा—सच बताओ अर्चना, क्या बात है?

अर्चना ने कुछ उत्तर न दिया। सुधाकर पुनः गरजकर बोल उठा—मै पूछता हूँ, बताती क्यो नही? क्या बात है?

और वह उठकर खडा हो गया। अर्चना ने सुधाकर की ओर देखा। सुधाकर की आकृति पर क्रोध उमड रहा था। अर्चना भय से सिकुड़कर बोल उठी—कुछ तो नही भैय्या!

कुछ तो नही भैय्या!—अर्चना की बात समाप्त होने के साथ ही साथ अरुणा बोल उठी—अब कहती क्यों नहीं, कि तुमने घी का डिब्बा गिरा दिया था, और हमने जरा सा डाँट दिया, तो तुम माँ बेटी, दोनों ने कुहराम मचा दिया।

सुधाकर ने अपनी बाईं ओर देखा! घी का डिब्बा उलटा हुआ पड़ा था। उससे निकलकर घी तो पृथ्वी में मिल गया था, पर उसका

चिह्न अब भी अवशेष था। सुधाकर के हृदय में आग जल ही रही थी, पृथ्वी पर गिरे हुये उस घी ने आहुति का काम किया। सुधाकर क्रोध से काँप उठा। वह आवेग में आगे बढ़ा, और एक ही क्षण में उसने अर्चना को तीन-चार चपत जमा दिये।

"माँ" अर्चना चीखकर गिर पड़ी।

मोहिनी, जो अभी तक कमरे के भीतर थी; अर्चना की चीत्कार सुन कर बाहर आई, और ड्योढ़ी पर खड़ी होकर बोल उठी—मार डालो, भैया, मार डालो। इससे तो यही अच्छा है, कि उसे मार ही डालो।

सुधाकर ने अब मोहिनी की ओर देखा। उसकी आँखों में क्रोध नाच रहा था, और ऐसा लगता था, मानों उसके भीतर की मानवता ने उसका साथ छोड़ दिया है। सुधाकर मोहिनी की ओर देखते ही देखते कह उठा—तुम दोनों ने हमारा खाना-पीना हराम कर दिया है। कहीं ठिकाना भी नही है, कि तुम दोनों, जाकर वही मरो।

मोहिनी के हृदय मे जैसे एक झंझावात-सा उठ पड़ा। ऐसा झंझा-वात उठ पड़ा, कि मोहिनी संपूर्णतः अपने को खो गई। वह कुछ देरतक किंकर्त्तव्य-विमूढसी खड़ी-खड़ी सुधाकर की ओर देखती रही; फिर मन्द स्वर में बोल उठी—यदि हम दोनों से तुम्हें तकलीफ हो भैया, तो फिर साफ-साफ जवाब दे दो। ठिकाना न सही, भगवान तो कही नही गये है।

मोहिनी की वाणी में स्पष्टतः आर्द्रता का प्रचुर अंश था। पर सुधाकर के हृदय से जो मानवता निकल गई थी, उसके कारण मोहिनी के उस आर्द्र कंठ का उसके ऊपर रंच मात्र भी प्रभाव न पड़ा; और वह अपनी उसी पूर्ववत् वाणी में बोल उठा—कितनी बार तो साफ-साफ कह चुका हूँ, अब कितनी बार कहूँ।

मोहिनी के सकरुण हृदय के भीतर एक चिनगारी-सी दौड़ उठी और वह उसीसे कुछ आवेग में आकर बोल उठी—अब फिर तुम्हें न कहना पड़ेगा बेटा; ईश्वर तुम्हें प्रसन्न रक्खे।

यद्यपि मोहिनी के हृदय के भीतर चिनगारियाँ सी उछल रही थी; पर जब उसने अपनी बात समाप्त की, तब स्पष्टतः उसके कंठ में आर्द्रता संचरित हो उठी थी। और ऐसी आर्द्रता संचरित हो उठी थी, कि सुधाकर की मानवता को भी उससे एक साधारण आघात-सा लग ही गया। सुधाकर ने मोहिनी की ओर देखा। मोहिनी कमरे के ड्योढी से चलकर अर्चना के पास पहुँच चुकी थी, और उसका हाथ पकड़ कर चुप-चाप घर से बाहर निकलने का उपक्रम कर रही थी।

सुधाकर के मन को आघात लगा, और उसके हृदय का एक कोना तप्त होकर जल उठा। उसके हृदय के एक कोने से आवाज़ उठी, कि वह बढकर मोहिनी के आगे खड़ा हो जाय। सुधाकर के पैर उठे भी; और संभवतः सुधाकर मोहिनी को रोक भी लेता, पर इसी समय अरुणा बोल उठी—मानों, अब घर में आयेगी ही नहीं! देखना है, यह गर्व कब तक चलता है।

मोहिनी ने अरुणा की बात सुनी। अरुणा की बात ने मोहिनी के पैरों में सक्रियता उत्पन्न कर दी; और वह अर्चना का हाथ पकड़कर बाहर की ओर चल पड़ी, किन्तु सुधाकर के पैर जैसे जकड़ से उठे हो। उसने एक बार अरुणा की ओर देखा और फिर मोहिनी की ओर। मोहिनी अर्चना का हाथ पकड़ कर चली जा रही थी। सुधाकर सिर नत करके खड़ा रह गया!

अरुणा का हृदय अब भी जल रहा था, और वह इसे मोहिनी का केवल 'नारी चरित्र' समझ रही थी।

[३]

रूप-जनित प्रेम न तो प्रेम होता है, और न स्वार्थ-जनित उदारता, उदारता। दोनों से ही एक न एक दिन मनुष्य का मन थक जाता है, और फिर उसे विरक्ति के आँचल में अपना मुँह छिपा लेना पड़ता

है। सुधाकर के मनका भी यही हाल हुआ। वासना और अरुणा के रूप के उन्माद में उसने सोचा था, कि मोहिनी और अर्चना से ही उसके सुख, शान्ति में विघ्न उत्पन्न हो रहा है, और जब वे दोनों न रहेंगी, तो उसके जीवन के दिन अरुणा के साथ बड़े आनन्द से बीतेंगे। मोहिनी और अर्चना के घर छोड़ देने पर सुधाकर के जीवन समुद्र में कुछ ज्वार तो उठा और उससे सुधाकर के मन में आकुलता भी उत्पन्न हो उठी, पर सुधाकरने अरुणाके रूप और उसकी वासनाकी छाया में उसे झेल लिया, और इसमें सन्देह नहीं कि उसके मन को कुछ ठंडी बयार लगी। सुधाकरने सोचा, बस जीवनका वास्तविक मार्ग यही है; पर जब कुछ दिनो के पश्चात् ही अरुणा और सुधाकर का मन वासना की आग से सूख गया, तब दोनों के मन में एक दूसरे के प्रति कुछ कुछ विरक्ति की भावना भी उत्पन्न हो गई, और जब विरक्ति की यह भावना उत्पन्न हो गई; तब वह शनैः शनैः अनुकूल वातावरण पाकर बढ़ने ही लगी।

अरुणा यों तो प्रकृति से ही उद्दण्ड थी, पर कुछ दिनो के पश्चात् जब उसकी उद्दण्डता ने जड़ पकड़ ली, तब वह सुधाकर के प्रति भी अपने कर्त्तव्य को भूल गई। जब तक मोहिनी और अर्चना घर मे थी, अरुणा अपनी उद्दण्डता के बादलों की उन्हीं पर वर्षा किया करती थी, किन्तु जब मोहिनी और अर्चना चली गई, तब अरुणा के मन के बादल सुधाकर पर बरसने लगे। सुधाकरके मनमें रूपकी प्यास थी ही, अतः वह अरुणा के मन के बादलों से भलीभॉति भीगने पर भी कुछ न बोलता। पर जब सुधाकर की ऑखों मे रूप का जल पीने की शक्ति न रही और उसका मन सूख गया, तब उसके हृदय के भीतर भी विरक्ति उत्पन्न हो उठी। पर सुधाकर के हृदय की विरक्ति मे सजीवता नहीं, सुप्तता ही थी। सुधाकर अरुणा के दैनिक व्यवहारो से उसकी ओर से उदासीन अवश्य हुआ, पर अरुणा को कुछ कहने का उसका साहस न

होता था। वह भीतर ही भीतर दुख की आग में जलता; और आह की साँसे लिया करता था। वह मन ही मन इस बात पर पाश्चात्ताप भी करता, कि उसने व्यर्थ मोहिनी और अर्चना को घर से जाने दिया। अब सुधाकर के मन को यह भी ज्ञात हुआ, कि मोहिनी और अर्चना के प्रेम में उसके लिये कितनी शीतलता थी, और इस अरुणाके प्रेम मे कितनी दाहक जलन! कई बार सुधाकर का मन मोहिनी और अर्चना की ओर दौड़ा भी, पर जब अरुणाका ध्यान आया, तो उसका साहस न हुआ।

अरुणा को पहले से ही अपने रूप और पीहर का बड़ा गर्व था। यही दो ऐसे साधन थे; जो अरुणा के मन को आकाश पर बिठाये हुये थे। अरुणा उस समय अपने को भूल जाती थी, जब कोई उसके पीहर के सबंध मे बात करता। अरुणा को अपनी बहनोंऔर अपने भाइयों के गौरव का भी अत्यधिक ध्यान रहता था। वह अपने भाइयो और बहनों के गौरव के सम्मुख इस बात का रंच मात्र भी ध्यान नहीं रखती थी कि सुधाकर का भी कुछ गौरव है, या नहीं, और उसके भीतर भी कुछ स्वाभिमान है या नही। मोहिनी और अर्चना के चले जाने पर अरुणा ने अपनी छोटी बहन और अपने छोटे भाई को बुला लिया था। अरुणा दिन रात उन्हीं दोनों मे लगी रहती थी, और सबसे अधिक उन्हीं दोनों का ध्यान भीरखती थी। सुधाकर जब खर्च से परीशान होकर कभी कुछ कहता तो अरुणा उलझ जाती और इस प्रकार उलझ जाती, कि सुधाकर को ही चुप हो जाना पड़ता था।

सुधाकर चुप तो हो जाता, पर उसके हृदय मे दुख की एक आँधी-सी डोल जाती थी। जब उसने देखा, कि अरुणा का ढंग न बदलेगा, तब उसने अरुणा से कुछ कहना ही छोड दिया। अरुणा स्वच्छन्दता से जीवन के पथ पर खेल खेलने लगी और सुधाकर अब उसके खेल का केवल दर्शक मात्र रह गया।

चैत बैसाख का महीना था। अरुणा के छोटे भाई का विवाह था; और वह कुछ पहले से ही अपने मैके चली गई थी। जाते समय वह सुधाकरसे कह गई थी, कि यह उसके सबसे छोटे भाईका विवाह है। विवाह में उसकी ओर से बहू को अधिक से अधिक अच्छी वस्तु भेंट मे दी जायगी। इसमे सन्देह नही, कि सुधाकरने अपनी आर्थिक शक्ति की सीमा से कही अधिक दूर जाकर अरुणा की आकांक्षाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न किया, किन्तु अरुणा के उस मन को, जिसमें उसके पीहर का अनुचित प्रेम और गर्व समाया हुआ था, सुधाकर का वह प्रयत्न अधिक तुच्छ ही ज्ञात हुआ।

सन्ध्या का समय था। सुधाकर जब अपने ससुराल पहुँचा, तब अरुणा उसे घर के भीतर बुलाकर उन वस्तुओं का निरीक्षण करने लगी, जिन्हे सुधाकर बहूको देनेके लिये अपने साथ लाया था। अरुणा एक ही साँस मे सारी चीजो को देख गई, और फिर कुछ रुखाई के साथ बोल उठी—कुछ और है, या यही ?

यह क्या कम है अरुणा !—सुधाकर ने अपने स्वाभाविक स्वर मे उत्तर दिया।

तुम्हारे लिये बहुत होगा—अरुणा बोल उठी—अपने अपने वंश की चलन तो है। मुझे तो लज्जा लगती है, कि मै सबके सामने इन वस्तुओं को बहू को कैसे दूंगी ?

सुधाकर के हृदय को एक कर्कश आघात लगा ! अरुणा ने जो वश की बात कही, उससे सुधाकरके भीतर एक झंकार-सी उठकर गूँज गई, और उस झंकार के उठने का सबसे बड़ा कारण यह था, कि अरुणा ने जिस समय यह बात कही थी, उसके दो छोटे वयस्क भाई भी वहाँ मौजूद थे। पर सुधाकरने अपने भीतर की झकार को भीतर ही भीतर दबा दिया। सुधाकर कुछ देरतक मौन रहा, वह कुछ कहना ही चाहता था, कि अरुणा बोल उठी—मुझे ये चीजे न चाहिये !

और उसने हाथ की साड़ी सुधाकर पर फेक दी। सुधाकर के हृदय को पुनः एक आघात लगा। वह भीतर ही भीतर पीड़ा से तिलमिला अवश्य उठा, पर उसने अपने भीतर की तिलमिलाहट को कंठ से बाहर न होने दिया। वह अपने स्वाभाविक स्वर में ही बोल उठा—चीजे बुरी नही है अरुणा! इनमे काफी रुपये खर्च हुये है!

काफी रुपये खर्च हुये है!—अरुणा तुनुक कर बोल उठी—मानों मैने चीजे कभी देखी नही। ठीक है, जो जैसा होता है, उसे वैसी ही चीजे अच्छी लगती है।

सुधाकर के उस स्वाभिमान के लिये, जो अरुणा के रूप की चादरो में लिपटा हुआ पड़ा था, यह एक कर्कश आघात था। सुधाकर ने अरुणा की उस बात की मन ही मन जब व्याख्या की, तब उसने देखा, कि अरुणा ने इस बात के द्वारा केवल उसीके मुँह पर नही, बल्कि उन सबके मुँह पर तमाचा मारा है, जो जीवित या मृत रूप मे उससे संबंध रखते है। सुधाकर भीतर ही भीतर जल उठा और वह आवेग मे कह उठा—अरुणा सोच-समझ कर बात करो!

यह पहला ही अवसर था, जब सुधाकर ने अरुणा के संमुख अपना मुख खोला था। अरुणा ने मोहिनी और अर्चना को अपमानित किया; पर सुधाकर ने अपना मुख न खोला। सुधाकर ने उस समय भी अपना मुख न खोला, जब मोहिनी और अर्चना को उसने घर से निकलते हुये देखा था, पर आज जब अरुणा ने अपने भाइयो के संमुख केवल उसीके मुख पर नहीं, उसके पूर्वजो के मुख के ऊपर भी छींटा मारा, तब सुधाकर अपने को रोक न सका। सुधाकर ने सोचा था, अरुणा उसकी साधारण-सी झिड़की से शान्त हो जायगी और वह कम से कम अपने पीहर मे कोई ऐसी बात न कहेगी, जो दोनो के पारस्परिक विवाद का कारण बन जाय। पर सुधाकर की उस साधारण सी झिड़की ने अरुणा के भीतर धधकती हुई अग्नि मे घी का काम किया। अरुणा भीतर

ही भीतर जलन से तिलमिला उठी और अपनी वाणी से चिनगारियाँ विखेरती हुई बोल उठी—हाँ, हाँ, मै खूब सोच-समझ कर बात कर रही हूँ। जो जैसा होता है, उसे वैसी ही चीजे अच्छी लगती है। कभी देखा तो है नहीं, फिर...... ।

अरुणा की इस बात से सुधाकरके भीतर भी क्रोध की आग धधक उठी और उसने अपनी तीव्र आँखों से अरुणा की ओर देखा। अरुणा की आकृति पर क्रोध नाच रहा था; और ऐसा क्रोध नाच रहा था, जो चेतनासे दूर-बहुत दूरसे उठकर आया था। सुधाकर कुछ देरतक अरुणा की ओर देखता रहा। अरुणा उद्यत थी, कि सुधाकर यदि और कुछ कहे तो उसे दो-चार और खरी-खोटी सुना दे। अरुणा की इस कटिबद्धता को देखकर सुधाकरके मनमें उठी हुई आग भीतर ही भीतर शान्त हो गई, और वह कुछ देर तक मौन रहकर अधिक दुख के साथ बोल उठा—हाँ, अरुणा, तुम ठीक कह रही हो। तुच्छ वंश का होने के कारण मैने कभी अच्छी चीजे देखी नही। मैं मानता हूँ अरुणा, तुम्हें मेरे साथ बड़ा कष्ट है; पर अब मै तुम्हे. . .।

सुधाकर अपनी बात पूरी करना अवश्य चाहता था, पर बात पूरी करते करते उसका कंठ कुछ जकड़-सा उठा और वह बीच में ही उठकर बाहर की ओर चल पड़ा। अरुणा के मन पर रमेश की बात का क्या प्रभाव पड़ा, कह नहीं सकते, पर उसने बाहर निकलते हुये सुधाकरकी ओर एक बार देखा अवश्य। सुधाकर दुखसे लदा हुआ मन्द-मन्द गति से बाहर चला जा रहा था। अरुणा सुधाकर की ओर देखने के पश्चात् विचार मग्न हो उठी, पर बोल न सकी।

× × ×

रात्रि के आठ बज रहे थे सुधाकर गङ्गा तट पर बैठा हुआ था। उसका हृदय दुख से परिपूर्ण था। उसे ऐसा लगता था, मानों किसी ने उसके उछलते हुए हृदय को मसल दिया हो। सुधाकर को यह भी

अनुभव हुआ, कि उसका हृदय थक गया है और अब उसमे आशा, शक्ति और साहस कुछ भी नही है। सुधाकर ने अपनी निराश आँखों से गंगा की ओर देखा। गंगा का शान्त प्रवाह धीरे-धीरे आगे बढा जा रहा था। एक बार रमेश के निराश मन मे यह भी उठा, कि वह क्यों न गंगा के शान्त प्रवाह के साथ चिर शान्ति की ओर चला जाय! हो सकता है, सुधाकर के मन मे उठा हुआ यह विचार उसके भीतर ठहर कर दृढ होता और यह भी हो सकता है, कि सुधाकर गंगा के शान्त प्रवाह के साथ चिर शान्ति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न भी करता। किन्तु एक सकरुण संगीत ने, जो समीप से ही मजीरे की खनक के साथ आ रहा था, सुधाकर के इस विचार को उसके मन मे टिकने न दिया। सुधाकर उस संगीत की ओर आकर्षित होकर ध्यान से उसे सुनने लगा। वह संगीतः—

प्रभु जी आन मिलो, अब मुझसे।
जनम जनम की मै दुखियारी, हाल कहूँ क्या तुझसे।

सुधाकर को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों सगीत के शब्द-शब्द में करुणा लिपटी हुई है। सुधाकर के हृदय मे एक हलचल सी उठ पड़ी, संगीत के शब्द, उसके शब्दो में लिपटी हुई करुणा, और करुणा की अन्तः शक्ति! सुधाकर उठ कर खड़ा हो गया और उसके पैर उसी ओर बढ चले। कुछ ही दूर पर जाकर सुधाकर ने देखा, एक वृद्धा थी और एक वयस्क लड़की। लडकी दोनों हाथों से मजीरा खनका रही थी; और वृद्धा गा रही थी। दोनों गाती हुई मन्द-मन्द गति से सड़क की पटरी से आगे बढ रही थीं।

सुधाकर को वृद्धा के संगीत मे बड़ा आकर्षण ज्ञात हुआ। उसे ऐसा लगा, जैसे वह गीत उसके भीतर—बहुत भीतर प्रविष्ट कर गया हो। सुधाकर भी उन दोनो के साथ-साथ मन्द-मन्द गति से चलने लगा।

दोनों जब कुछ दूर गई; तो एक गली में मुड गईं। गली में चारों

ओर अंधकार था। ऐसा लगता था, मानों सम्पन्नों की अंधकार निवारक वैज्ञानिक शक्ति से भयभीत होकर अंधकार ने उसी संकीर्ण गली में आश्रय लिया हो। यद्यपि गली में प्रविष्ट होने पर वृद्धा का कंठ और वयस्क लडकी के मजीरे की सुमधुर खनक बन्द हो चुकी थी; पर उसकी गूँज जो सुधाकरके हृदयमें अवशेष थी, उसीके आवेग में सुधाकर गलीमे भी कुछ दूरतक चला गया। पर अब सुधाकरको कुछ भय सा ज्ञात होने लगा। उसने इधर-उधर देखा, चारों ओर अंधकार! अंधकार में उस गली के टूटे-फूटे मकान अपने आप ही विभिन्न भयानक आकृतियों में चित्रित हो रहे थे। सुधाकर को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों वह भूल कर रहा है। सुधाकर रुक गया और पीछे लौटने लगा।

सुधाकर के पैर पीछे की ओर अभी उठ ही रहे थे, कि लड़की बोल उठी--पत्थर है माँ, सँभल कर आना!

पगली कही की!—वृद्धा झट वोल उठी–क्या इस पत्थर की चोट उस पत्थर से भी अधिक होगी, जिसे मै अपने हृदय में रख कर संसार में दर-दर घूम रही हो!

लड़की ने वृद्धा की बात का कुछ उत्तर न दिया। वह उस अधकार-पूर्ण गली मे वृद्धा का हाथ पकड़े हुये बढ़ती ही जा रही थी। पर वृद्धा की इस बात से उसके मन मे उथल पुथल अवश्य उत्पन्न हो उठा, और वह पहले से कहो अधिक गंभीर बन गई।

सुधाकर के उठे हुये पैर रुक गये, और उसके मन के भीतर एक गहरी आँधी दौड़ पड़ी। उसे ऐसा लगा, जैसे वृद्धा के कंठ से निकली हुई वाणी उसकी आत्मा को चुम्बक लोहे की भाँति खीच रही हो। उसके मन ने वृद्धा से कुछ आत्मीयता का भी अनुभव किया; और जब आत्मीयता का अनुभव किया, तब उसकी आँखों के सामने एक चित्र घूम गया। सुधाकरने उस चित्रमें अपनी माँ, मोहिनी और वहन अर्चना को घर से बाहर निकलते हुये देखा; इसके पश्चात् दो तीन

वर्ष बीत गये। फिर उसने देखा, उस वृद्धा को वयस्क लड़की के मजीरे की खनक के साथ गाते हुये ! सुधाकर का हृदय तड़प उठा, और वह कुछ सोच कर वृद्धा के पीछे पीछे चल पड़ा।

गली के मोड़ पर पहुँच कर लड़की एक झोपड़ी के पास रुक गई। उसने झोपड़ी के द्वार पर दी हुई टटिया खोली और फिर दोनों भीतर चली गई। सुधाकर झोपड़ी के पास खड़ा होकर उन दोनो की बातें सुनने का प्रयत्न करने लगा।

झोपड़ी मे कुछ देर तक सन्नाटा रहा, फिर वृद्धा बोल उठी—कुछ खाने-पीने को है बेटी अर्चना !

है माँ, ला रही हूँ—लड़की ने, जिसका नाम अर्चना था, जवाब दिया।

अर्चना ! सुधाकर की आँखों के सामने एक मूक चित्र दौड़ गया। सुधाकर ने फिर एक बार इस चित्र में मोहिनी और अर्चना को घर से निकलते हुये देखा और उसके पश्चात् देखा, लडकी के मजीरे की खनक के साथ वृद्धा को गाते हुये। सुधाकर मन ही मन सोचने लगा; सुधाकर अभी सोच ही रहा था, कि वृद्धा पुनः बोल उठी—आज न जाने क्यों मेरा कलेजा निकला आ रहा है अर्चना !

गर्मी बहुत है माँ, खाना खालो तो बाहर चल कर हवा मे सोये !—अर्चना ने रोटी लाकर वृद्धा के सामने रखते हुये कहा।

वृद्धा रोटी का एक टुकड़ा तोड कर मुँह के पास ले गई और फिर कुछ सोचने लगी। जैसे सहसा उसे किसी बात की याद पड गई हो और वह अधिक पीडित हो गई हो। वह रोटी के उस टुकड़े को मुँह से अलग करके पीडा के स्वर मे बोल उठी—नहीं बेटी अर्चना, आज मुझसे कुछ न खाया जायगा। न जाने क्यो अर्चना, आज मुझे रह-रह कर सुधाकर की याद आ रही है और ऐसा लग रहा है, जैसे हृदय बाहर निकला आरहा है। कहीं सुधाकर के ऊपर कोई आपत्ति तो नहीं आई !

वृद्धा का कंठ आर्द्र हो उठा, और उसने अपना अंचल आकाश

की ओर फैला दिया। फिर वह सकरुण कंठ से बोल उठी—भगवान, सुधाकर जहाँ कहीं भी हो, अपनी बहू के साथ कुशल पूर्वक रहे।

सुधाकर अब अपने को रोक न सका। वह सकरुण कंठ से 'माँ' कह कर झोपड़ी के भीतर घुस पड़ा।

सुधाकर के कंठ से निर्गत मां, शब्द को रजनी ने दुहराया, दिशाओं ने दुहराया और दुहराया मूक आकाश ने भी। ऐसा लगा, जैसे चारो ओर करुणा के बादल छा गये हों और बरस कर सारे जगत को अपनी शीतलता से कँपा देना चाहते हों!

सुधाकर वृद्धा के पैर पर जाकर गिर पड़ा; और थोड़ी ही देर मे उसकी आँखों ने इतने आँसू ढकेल दिये, कि वृद्धा के पैर भीग उठे। वृद्धा ने सुधाकर के मुख को दोनों हाथों से ऊपर उठाया; और फिर एक हाथ से रोटी का टुकड़ा उसके मुँह में डालते हुये वह बोल उठी-लो खाओ, मेरे भूले हुये राही! बहू को तुमने कहाँ छोड़ा?

सुधाकर के अन्तस्तल की वेदना उमड़ पड़ी, और उसने विलखकर वृद्धा के अंचल में अपना मुख छिपा लिया। सुधाकर वृद्धाके अंचलमें मुँह छिपा कर इस प्रकार रोने लगा; मानों दो वर्ष का बालक हो।

सुधाकर और उसकी वृद्धा माँ मोहिनी! उस समय दोनोंके हृदय मे जो स्नेह उमड़ पड़ा था; उसका चित्र क्या शब्दों से खीचा जा जा सकता है! कदाचित् ही कोई देवदूत भी उस चित्र को खींच सके!

——:o:——

उल्का
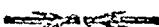
इस उल्का और आकाश की उल्का में बड़ा विभेद था। आकाश की उल्का केवल निशा की ठंढक में ही जल-जल कर आहें भरा करती है; पर यह उल्का तो निशा की ठंढक के अतिरिक्त दिवा की उष्णता मे भी दीपक की तरह जला करती थी। वह उल्का की भाँति हा बोलती तो कुछ न; पर ऐसा लगता, मानों वह अपने हृदय मे क्रान्ति की आग छिपाये हुये है। वह युनिवर्सिटी में बी० ए० में पढ़ रही थी। वह प्रायः मूर्तिमती-सी अपने विचारों में व्यस्त रहा करती थी। किन्तु जब कभी बोलती तो ऐसा लगता; मानों उसके भीतर शत-शत आँधियाँ छिपी हुई है। उल्का अपने मन की उन्हीं आँधियों के साथ दिन रात क्रीड़ा किया करती थी।

उल्का सुन्दर भी थी। आज कल्ह किसी भी सुन्दर लड़की को, लोग उस कुसुम कली ही की भाँति समझते है, जो चाहे कोई भी भ्रमर हो, मधुपान के लिये अपना द्वार खोले रहती है, और यही समझ कर लोग सुन्दर लड़कियों की ओर अपनी आँखे भी फेकते है। आज की सभ्यता की यह सबसे बड़ी देन है; जिसका संकीर्त्तन स्वर्ग के लोग तो नही, किन्तु कदाचित् नर्क के लोग बड़े अभिमान से करेंगे।

उल्का को चमक ने भी लोगो को अपनी ओर आकर्पित किया। पर उल्का सबको घृणा की दृष्टि से देखती थी। उल्का की इस घृणा का कारण चाहे और कुछ न रहा हो; पर इतना तो अवश्य था, कि आज स्त्रियों की जो हीनावस्था है, उल्का उसका एक मात्र कारण पुरुष को ही समझती थी। उल्का प्रायः स्त्रियों और पुरुषो की स्थिति पर विचार किया करती थी; और जब वह विचार करती थी तो उसे

ऐसा लगता था, कि पुरुष ने बड़े कौशल से नारीको अपनी आर्थिक दासता की शृंखला में बाँध रक्खा है। उल्का का मन इस बात को सोचकर तड़प उठता; और फिर पुरुष के प्रति उसके हृदय में रंच मात्र भी सहानुभूति न रह जाती। उसके मनमें घृणा का संचार भी हो जाता; और वह अपने को उससे दूर रखने का मन ही मन संकल्प स्थिर कर लेती।

पर गगन को जब उल्का देखती; तब न जाने क्यों उसके हृदय की घृणा दब जाती थी और मन ही मन उसके हृदय में एक प्रकार की उत्कंठा भी जागृत हो जाती थी। उसकी इस उत्कंठा का चाहे और जो भी कारण रहा हो, पर यह तो अवश्य था, कि स्वयं गगन भी स्त्री पुरुष के संबंध में अपना वही विचार रखता था; जो उल्का के विचार थे। स्वयं गगन भी उल्का को पसन्द करता था। जब वह कभी उल्का से बातचीत करता; तब वह कहता, उल्का स्त्री और पुरुष, दोनों ही जगत की स्वतंत्र दो शक्तियाँ है। वे कितना अन्याय करते है उल्का, जो इन शक्तियों को नियमों के बन्धनो में बाँधकर इनके विकास की गति को अवरुद्ध कर देते है। गगन की ये बाते उल्का को बहुत ही प्रिय लगतीं और उसे ऐसा ज्ञात होता, मानों गगन वही कह रहा है, जो उल्का के हृदय में है।

कह नहीं सकते, कि उल्का और गगन के हृदय में एक दूसरे के प्रति जो उत्कंठा थी, उसका क्या रूप था, क्योंकि वे दोनों ही नियमों को मानव की प्रगति का अवरोधक समझते थे; पर जब गगन और उल्का के घर उनके अपने अपने विवाह की बात चली, तो एक बार दोनों ने ही विवाह करने से अस्वीकार कर दिया। गगन का अस्वीकार तो कुछ दिनों तक दृढ़ रहा, पर उल्का गगन पर अधिक दिन तक दृढ़ न रहने पाई। वह दृढ़ रहना चाहती तो थी, पर जिन सामाजिक नियमों के प्रति उसके मन में विद्रोह था, उन्हीं नियमों के भीषण

झंझावात ने उल्का के पैर उखाड़ दिये और बी० ए० पास कर चुकने पर उल्का परिणय सूत्र में बाँध दी गई।

न जाने क्यों, गगन के हृदय को इससे एक आघात-सा लगा। यद्यपि गगन और उल्का, दोनों में से एक किसी के हृदय में भी यह आकांक्षा प्रबल रूप मे उत्पन्न न हुई थी, कि वे परस्पर जीवन-सूत्र में बँध जायँ, पर इतना अवश्य था, कि दोनो ही एक-दूसरे के सम्पर्क की भीतर ही भीतर कामना रखते थे। उल्का का विवाह हो जाने पर भी गगन अविवाहित ही बना रहा। उस समय भी जब कोई उससे विवाह की बातचीत करता, तो वह उसे अस्वीकार कर देता और कहता, विवाह एक ऐसा बन्धन है, जो स्त्री पुरुष, दोनों ही के मानसिक विकास को रोक देता है।

गगन ने विवाह तो न किया, पर कभी कभी उल्का की स्मृति उसके हृदय मे जाग उठती थी और जब स्मृति जाग उठती थी, तब उसे ऐसा लगता था, मानों उसके हृदय के भीतर से कोई वस्तु खींच कर बाहर निकाल ली गई है।

× × ×

जाड़े के दिन थे। दो बज रहे थे। आज कई दिन हो गये, उल्का अपने ससुराल से लौटकर आ गई थी और वह मन ही मन सोच रही थी, कि गगन के घर चले। गगन और उल्का एक ही नगर के रहनेवाले थे। गगन की तरह उल्का के हृदय मे भी गगन की स्मृति अवशेष रह गई थी और उस समय भी अवशेष रह गई थी, जब उल्का विवाहित होकर अपने ससुराल मे गई थी। अपने पति से बातचीत करते समय भी कभी कभी उल्का के मन के भीतर गगन की स्मृति जाग उठती थी। कभी कभी जब उल्का एकान्त में बैठती, तो गगन की स्मृति उसके हृदय के भीतर ही भीतर उठकर उपद्रव भी उत्पन्न करने लगती थी और उल्का आकुल होकर अपना मानसिक

कर्त्तव्य भी भूल जाती थी। उल्का जब ससुराल से लौटकर आई, तब उसका हृदय गगन के घर जाने के लिये आकुल हो उठा और वह अपने लिये अवसर निकालने का प्रयत्न करने लगी। आखिर, एक दिन अपनी सहेली से मिलने का बहाना करके उल्का गगन के घर जा पहुँची।

उल्का के साथ ही साथ गगन भी बी० ए० पास कर चुका था। बी० ए० पास कर चुकने पर उल्का तो परिणय-सूत्र मे बँध गई, किन्तु गगन उससे अलग रहकर समाज में उन व्यक्तियों की सेवा करने लगा, उसकी समझ में समाज ने जिन्हे कुचलकर मिट्टी मे मिला दिया था। गगन अपने कमरे में कुर्सी पर बैठकर एक रूसी लेखक की एक पुस्तक पढ़ रहा था, जिसमे गरीबों और मजदूरों की स्थिति और उसके कारणों पर बौद्धिक प्रकाश डाला गया था। उल्का को देखते ही गगन ने पुस्तक रख दी, मानो पुस्तक से कही अधिक आकर्षण गगन के लिये उल्का में हो। गगन पुस्तक रखकर उछलते हुये स्वर से शीघ्र बोल पड़ा—ओ हो, तुम आ गई उल्का?

उल्का गगन के कमरे मे प्रवेश करके दोनों हाथो से उसे नमस्ते करती हुई कुर्सी पर बैठ गई। उल्का ने गगन की बात का कुछ उत्तर तो न दिया; किन्तु उसके अधरो पर हास्य की एक धूमिल रेखा अवश्य खिच गई। गगन ने हास्य की उस धूमिल रेखा को देखा। गगन कुछ देर तक उल्का की ओर देखता हुआ मौन रहा, फिर वह बोल उठा—इन थोड़े ही दिनों तुम काफी बदल गई उल्का!

नही तो!—उल्का ने एक दृष्टि से गगन की ओर देखकर कहा—मै तो बिलकुल वैसी ही हूँ, जैसी पहले थी।

अपने हृदय से पूछकर कहो उल्का!—गगन बोल उठा—तुम सत्य को छिपा रही हो; पर तुम जरा आइना लेकर तो देखो, तुम्हारा चेहरा साफ-साफ प्रगट किये दे रहा है। होता ही है ऐसा उल्का! स्वतंत्र

वायुमण्डल में रहनेवाली लड़कियाँ जब ससुराल जाती है, तब दो ही चार दिनो मे ऐसी हो जाती है, मानों चूसी हुई आम की गुठली। सचमुच ससुराल लड़कियों के लिये कारागार ही के समान होती है। इसीलिये संसार के विचारशील लोग विवाह को एक बंधन मानते है।

गगन एक ही स्वर मे अपनी बात पूरी कह गया; और जब उसकी बात पूरी हो गई, तब वह उल्का की ओर देखने लगा। उल्का ने एक बार गगन की ओर देखा; और फिर अपना सिर नीचे कर लिया। गगन ने सोचा था, उल्का उसकी बात का उत्तर देगी, और जब वह उत्तर देगी, तो उसकी बातों में उसीके कथन का ढंग होगा; और वह उसके विचारों से अपनी सहमति प्रगट करेगी, किन्तु जब उल्का कुछ देर के पश्चात् भी मौन ही रही, तब गगन पुनः बोल उठा—जान पड़ता है, विवाह के बंधन ने तुम्हे खूब कसकर जकड़ लिया है उल्का! तुम जिसे तोड़ने का संकल्प कर रही थी, उसने तुम्ही को तोड़ दिया। बड़ा प्रबल है यह बंधन!

गगन बात समाप्त करते-करते कुछ हँस पड़ा। उल्का को गगन की यह हँसी रुचिकर न प्रतीत हुई। उसे ऐसा लगा, मानों गगन इस हँसी के रूप मे उसका उपहास कर रहा है। उल्का ने कुछ उत्तर न दिया, पर उसने एक ऐसी दृष्टि से गगन की ओर देखा, जिससे गगन कदाचित् कुछ सतर्कसा हो गया; और वह पुनः हँसता हुआ बोल उठा—जाने भी दो इस बात को उल्का! अब जब तुम परिणय सूत्र में बँध गई हो, तब तुम पर उसका प्रभाव तो पड़ेगा ही। अच्छा यह तो बताओ उल्का, तुम्हारे पति महोदय कौन सा काम करते है?

एक स्कूल में शिक्षक है।—उल्का ने मन्द स्वर से उत्तर दिया।

शिक्षक है!—गगन आश्चर्य के स्वर मे बोल उठा! उल्का ने गगन की ओर देखा। गगन अपनी बात समाप्त करके कुछ गंभीर हो उठा था। उल्का मन ही मन गगन के इस आश्चर्य पर विचार करने

लगी। पर उल्का को अधिक देर तक विचार करना न पड़ा, गगन बीच में ही बोल उठा—तब तो और भी अच्छा नहीं हुआ उल्का! शिक्षक का वेतन बहुत कम होता है। वैवाहिक जीवन में यदि अर्थ का अभाव रहता है, तो फिर वैवाहिक जीवन और भी अधिक दुखद हो जाता है। मेरी राय है उल्का, तुम भी किसी स्कूल में अध्यापन का काम कर लो!

हाँ विचार तो मेरा भी कुछ ऐसा ही है!—उल्का ने उत्तर दिया।

उल्का अपनी बात समाप्त करके कुछ गंभीर सी हो उठी। मानों वह मन ही मन किसी कल्पना का चित्र अंकित कर रही हो।। गगन ने उल्का की बात सुन कर उसी की ओर देखा। वह उसी की ओर देखते ही देखते पुनः बोल उठा—तुम्हारा यह बहुत ठीक विचार है उल्का! विवाहित जीवन में पुरुष की आर्थिक दासता स्त्री के लिये बड़ी दुखदायी होती है। यदि तुम चाहोगी उल्का, तो इस संबंध मे मै तुम्हारी सहायता भी कर सकता हूँ।

गगन अपनी बात समाप्त ही कर पाया था, कि उसकी माँ उसके कमरे में आ गई, और वह कमरे में प्रवेश करती हुई बोल उठी—किसकी सहायता कर रहे हो गगन!

और साथ ही उसने उल्का को देखा। गगन पहले तो कुछ हिचकिचाया, फिर बोल उठा—यह उल्का है माँ! अभी ससुराल से लौट कर आई है। इसके पति महोदय अध्यापक है। मै इससे कह रहा था, यह भी किसी स्कूल में अध्यापिका हो जाय!

नहीं बेटी!—गगन की माँ ने उल्का की ओर देख कर कहा—तुम इसकी बातों में न आना। यह तो ऐसी ही बहकी बहकी बाते किया करता है। यदि इसका बस चले तो यह सरकार के सारे आफिसों को स्त्रियों से भर दे!

और फिर!—गगन बीच में ही बोल उठा—कुछ दिनों तक पुरुषों को भी चूल्हे चक्की का मजा मिल जाय!

फिर चलो आज ही से प्रारंभ न करो—गगन की माँ बीच ही में बोल उठी।

उल्का हँस पडी, और गगन के अधरों पर भी मुसकुराहट की एक हल्की रेखा दौड़ गई, किन्तु वह शीघ्र ही गंभीर हो गया। वह कुछ देर तक सोचता रहा, फिर बोल उठा—मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका उल्का, अब माता जी तुम्हें चूल्हे चक्की की बात बतायेंगी। तुम अब इनके पास बैठ कर बात करो, मै जा रहा हूँ।

उल्का ने गगन की ओर देखा। गगन उठ कर खड़ा हो चुका था। उल्का ने गगन को दोनो हाथ जोड़ कर नमस्ते किये। गगन ने उल्का के नमस्ते का उत्तर देते हुये उसकी ओर देखा। और जब उसकी ओर देखा, तो दोनों की आँखे टकरा गई। गगन तो कमरे के बाहर निकल गया, किन्तु उल्का कमरे में बैठी ही रह गई। और उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो उसके हृदय का कोना कोना किसी मार्मिक आघात से झनझना उठा है।

कदाचित् ऐसी ही झनझनाहट गगन के हृदय से भी उठ रही हो! उल्का और गगन के हृदय की झनझनाहट! गगन की माँ उसे अपने कानों से सुन न सकी, पर न जाने क्यो, उसने उल्का को जब देखा, तो उसकी आँखो से विस्मय भरा हुआ था।

[२]

"यह देखिये, आवश्यकता"

उल्का ने अखबार अपने पति कैलाश की ओर बढ़ा दिया। कैलाश चाय की घूँट लेता हुआ अखबार मे 'आवश्यकता' पढने लगा— "रामनगर की कन्या पाठशाला मे एक ग्रेजुएट अध्यापिका की आवश्यकता! वेतन योग्यतानुसार!"

कैलाश ने पढ़कर अखबार अलग रख दिया और फिर चाय वह

इस प्रकार पीने लगा, मानों उसके हृदय पर उन पंक्तियों का कुछ प्रभाव ही न पड़ा हो। उल्का ने कैलाश की ओर देखा और फिर वह बोल उठी—मैं समझती हूँ, यह स्थान बहुत अच्छा होगा। घर का घर और नौकरी की नौकरी!

कैलाश फिर भी मौन ही रहा, पर उसकी आकृति पर गंभीरता खेल गई। वह मन ही मन जैसे कुछ सोच-सा रहा हो। उल्का ने जब उत्तर न पाया, तो वह पुनः बोल उठी—तो क्या मैं अप्लीकेशन भेज दूँ? मै समझती हूँ, यह स्थान मुझे अवश्य मिल जायगा। स्कूल के मैनेजर मेरे पिता के मित्र है।

कैलाश ने उल्का की ओर देखा। उल्का उसे अपने भीतर ही भीतर कुछ झिलमिलाती हुई-सी दृष्टिगोचर हुई। कैलाश बोल उठा—पर उल्का तुम नौकरी करने के लिये इतनी व्यग्र क्यों हो? क्या तुझे कोई कष्ट है?

कष्ट तो नही है!—उल्का ने उत्तर दिया—पर हानि ही क्या है? आपको इससे कुछ सहायता ही मिलेगी।

मै ऐसा पति नही उल्का!—कैलाश ने कहा—जो केवल आर्थिक लोभ के वशीभूत होकर पत्नी को अपने से दूर कर दूँ। यदि मै सर्विस में न होता, तो किसी प्रकार तुम्हारी बात मान भी लेता, पर जब मेरा काम येन केन प्रकारेण चला जा रहा है, तब मै नही चाहता उल्का, कि तुम सर्विस के बन्धनों मे बँधकर मुझसे दूर रहो।

लेकिन मेरे लिये भी तो यह अच्छा नहीं!—उल्का बोल उठी—कि मै आप पर भार बनकर रहूँ। जब मै स्वयं इस योग्य हूँ कि कुछ पैदा कर सकती हूँ, तब आप ही के कन्धे पर सब भार डालना मैं उचित नही समझती।

उल्का की इस बात से न जाने क्यों कैलाश के हृदय को एक कर्कश आघात-सा लगा और उसने विस्मय की दृष्टि से उल्का की

ओर देखा। कैलाश उल्का को देखने के पश्चात् कुछ गंभीर-सा हो गया और मन ही मन कुछ सोचने लगा। कुछ देर के पश्चात् वह पुनः उल्का की ओर देखकर बोल उठा—पर मै तुम्हारी इस बात से सहमत नही हो सकता उल्का!

कैलाश अपनी बात समाप्त करके कुर्सी से उठ गया और कमरे के बाहर चला गया। पर उल्का विचारों की लहरियों मे गोते लगाने लगी। थोडी ही देर में उल्का के हृदय मे कई प्रकार के विचार उठे और उठकर मिट गये। पर उल्का के हृदय में यह विचार उठकर न मिट सका, कि वह पुरुष की आर्थिक दासता के बंधनों मे बँधकर न रह सकेगी। उल्का के हृदय का यह अपना मौलिक विचार था। विवाह के पूर्व भी उल्का के हृदय मे इस प्रकार के विचार उठा करते थे। किन्तु जब उल्का का विवाह हुआ, तब उसके उन विचारों पर जैसे एक आवरण-सा पड गया था। पर इधर जब से वह अपने पीहर से लौटकर आई है, उसके हृदय मे फिर वे पुराने तूफान जाग उठे है। गगन ने अपने कमरे में बैठकर उल्का की आँखों के सामने जो चित्र खींचा था, उससे उल्का के हृदय मे छिपी हुई विद्रोह की भावना पुनः जाग पड़ी है और उल्का अब पुनः स्त्री पुरुष के संबंध को अपने पुराने विचारों की तुला पर तौलने लगी है। उसने पीहर से लौटकर आने पर कैलाश से कई बार कहा, कि वह स्वयं किसी स्कूल मे अध्यापन का कार्य करना चाहती है, किन्तु कैलाश ने उसके इस विचार को पसन्द न किया। कैलाश ने सोचा, उल्का उसकी अनिच्छा का आदर करेगी और सर्विस करने का उसके मनमे जो विचार जाग उठा है, वह दब जायगा, पर उल्का के इस संबंध के विचार कमजोर न होकर, मन ही मन, प्रबल होते गये। उल्का ने कैलाश की अनिच्छा का अर्थ इस रूप मे समझा, कि कैलाश पुरुष है और वह भी सभी पुरुषों की भाँति उसे अपनी आर्थिक दासता के बंधनों में बाँधकर

रखना चाहता है। अतः उल्का ने मन ही मन निश्चय कर लिया, कि वह सर्विस अवश्य करेगी और यदि इसके लिये उसे कैलाश की भी उपेक्षा करनी पड़ेगी, तो वह करेगी।

यों तो अखबार में प्रति दिन अध्यापिका की आवश्यकता प्रकाशित हुआ करती थी, पर जब रामनगर की कन्या पाठशाला में स्थान रिक्त हुआ, तब उल्का के मन का निश्चय कुछ समाकुल सा हो उठा। इसका सबसे बड़ा कारण यह भी था, कि गगन ने एक पत्र लिखकर उसे इस स्थान के लिये अप्लीकेशन भेजने की सलाह भी दी थी। यद्यपि कैलाश ने अपनी असहमति प्रगट की; पर उसकी इस असहमति का उल्का के हृदय पर रंचमात्र भी प्रभाव न पड़ा। उसके हृदय में जो आग छिपी हुई थी, कहना चाहिये कि कैलाश की इस असहमति से भड़क उठी और उसने कैलाश की सहमति के बिना ही अप्लीकेशन भेज दी। जब नियुक्ति का पत्र आया, तब कहीं जाकर कैलाश को पता लगा। कैलाश कुछ बोला तो न; पर उसे ऐसा लगा, मानों उल्का दूर–उससे बहुत दूर जा रही है। उल्का ने जाते समय जब उससे विदा माँगी, तब 'जाओ' कहते समय उसका कंठ भर आया। उल्का ने उसके भरे हुये कंठ से निःसृत वाणी सुनी; और उसकी उस आकृति को भी देखा, जो सावन की बदली की तरह दुख से श्याम बन गई थी; पर इसका उसके भी हृदय पर कुछ प्रभाव पड़ा या नहीं, कह नहीं सकते!

[३]

उल्का और गगन! जिस प्रकार गगन की गोद में उल्का रहती है, उसी प्रकार यह उल्का भी रामनगर में जाकर गगन की गोद में डूब गई। पहले वह कभी कभी कैलाश को पत्र लिख दिया करती थी, पर जब वह गगन की गोद में बिलकुल समाविष्ट हो गई, तब वह

कैलाश को भूल-सी गई; पर कैलाश उसे न भूल सका। उल्का ने उसकी जो उपेक्षा की, उससे कैलाश के हृदय को दुःख अवश्य हुआ; पर उसने अपने हृदय की उस सहानुभूति को नष्ट न होने दिया, जो पत्नी के प्रति पुरुष के हृदय में होनी चाहिये। कैलाश कई बार उल्का को बुलाने के लिए उसके घर गया, उसने उल्का को इस सम्बन्धमें कई पत्र भी लिखे, पर उल्का ने इस ओर ध्यान न दिया। दो-एक बार इसी बात को लेकर उससे उल्का की कुछ कहा-सुनी भी हो गई ; और जब कहा-सुनी हुई तो उल्का ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये कुछ भी उठा न रक्खा ! उल्का की उच्छृङ्खलता को देखकर कैलाश कहा-सुनीको विग्रह का स्वरूप धारण न करने देता, पर उसके दुख-पूर्ण कंठ से यह बात अवश्य निकल जाती "पछताओगी उल्का !"

पर उल्का के लिये यह बात पीतल के पात्र की झनझनाहट ही के समान थी। उल्का स्वतंत्र होकर अपने पथ पर आगे बढ़ने लगी। गगन के प्रति उसके हृदय में उत्कंठा थी ही, अवसर पाकर इस उत्कंठा ने अपने पंख फैला दिये ! गगन तो यह चाहता ही था। वह भी उल्का के साथ उड़ चला, और इस प्रकार उड़ चला, कि यह देखना भी भूल गया, कि लोग दोनों की उड़ान को देखकर किस प्रकार व्यंग की हँसी हँस रहे हैं !

रात्रि का समय था। आठ नौ बज रहे थे। चन्द्रिका ने आकाश पर बैठकर अपने पंख फैला दिये थे। उसके पंख की धवलता में गगन की सारी उल्काएँ समाविष्ट हो गई थीं। पार्क में बेंच पर बैठे हुये गगन ने आकाशीय उल्काओं की इस अस्तित्त्व हीनता को देखा ! वह आकाश की ओर देख कर कुछ देर तक सोचता रहा, फिर अपने समीप बैठी हुई उल्का के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करके बोल उठा—उल्का देख रही हो न, आकाश की सारी उल्काएँ चन्द्रिका में अपने अस्तित्त्व को खो चुकी हैं; पर तुम ! तुम पर जैसे चन्द्रिका का प्रभाव पड़ा ही नहीं उल्का !

पर गगन की इस बात का उल्का के हृदय पर जैसे कुछ प्रभाव ही न पड़ा हो! गगन ने उल्का की इतनी बड़ी प्रशंसा की, कि उसे आकाशीय उल्काओं से कहीं अधिक ऊपर बिठा दिया; पर उल्का का हृदय इससे रंच मात्र भी आन्दोलित न हुआ। उल्का न जाने क्यों आज अधिक गंभीर सी थी। वह जब पार्क में गगन के साथ आई, तब जैसे मन ही मन विचारों के यान पर उड़ रही हो। गगन उन्माद की तरंगों में बह रहा था। इस लिये वह लक्ष्य न कर सका। उल्का ने जब गगन की बात का कुछ उत्तर न दिया, तब गगन ने ध्यान से उल्का की ओर देखा। उल्का विचारों में तन्मय-सी थी। गगन बोल उठा-क्या सोच रही हो उल्का ?

यही-उल्का बोल उठी-यदि आकाशीय उल्काओं की तरह मैं भी गगन में अपने अस्तित्त्व को खो देती और गगन मुझे भी इन उल्काओं की तरह अपनी गोद में छिपा लेता!

गगन ने विस्मय से उल्का की ओर देखा और विस्मय के ही स्वर में वह बोल उठा-आज तुम्हें क्या हो गया है उल्का! तुम्हारी आकृति से हीं नहीं, तुम्हारी बातों से भी आज चिन्ता प्रगट हो रही है।

हाँ गगन, आज मैं चिन्तित हूँ-उल्का ने गगन की ओर देखते हुये कहा-पहले मैंने समझा था गगन, कि जीवन का यह पथ, जिस पर हम तुम दोनों अबाध गति से आगे बढ़े जा रहे है, बहुत ठीक है; पर इस लुका-छिपी, और इस भय से भरे हुये जीवन ने अब हृदय मे सन्देह उत्पन्न कर दिया है। गगन यह जीवन अधिक दिनों तक न चल सकेगा। आवो, हम तुम दोनों . ...।

पर यह कैसे हो सकता है!-गगन बोल उठा-तुम विवाहिता हो। जब तक तुम अपने पति को तलाक न दे दो उल्का, हम तुम दोनों.. ।

उल्का का सिर नत हो उठा। तलाक़! उसके हृदय में एक आँधी-सी दौड़ गई। वह अपने पति को तलाक दे दे, पर क्यों ? उसके पति

ने उसके साथ कोई अन्याय तो किया नही। नही, वह अपने पति को तलाक न देगी और गगन के साथ जिस पथ पर आगे बढ रही है, वह अब उसे छोड़ देगी। यह गगन, कहता है, तुम विवाहिता हो! पर उच्छृङ्खलता की कीड़ा करते हुये इसने कभी यह न सोचा, कि तुम विवाहिता हो, अब जब परिणय की बात चली; तब कहता है, तुम विवाहिता हो। उल्का का हृदय कॉप उठा, और उसने गगन की ओर देखा। गगन शीघ्र बोल उठा–क्या फिसल गई उल्का! उल्का, मै तैयार हूॅ। मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूॅ उल्का; पर तुम्ही बताओ, बिना तलाक दिये हुये हम और तुम कैसे परिणय-सूत्र में बॅध सकते है!

उल्का के हृदय मे जो विचार उठ कर मॅड़रा रहे थे, वे गगन की इस मृदुल थपकी से फिर सो-से गये। उल्का ने गगन की ओर देखा, और उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों गगन की वाणी मे सत्य नाच रहा हो। उल्का आवेग मे आकर बोल उठी–मै नहीं फिसल सकती गगन!

तो बस ठीक है उल्का!–गगन ने कहा–कल ही अपने पति को तलाक की नोटिस दे दो और फिर इसके पश्चात् हम और तुम ...।

उल्का की तलाक की नोटिस जब कैलाश को मिली तब कैलाश का हृदय मथ उठा। उसकी ऑखों के सामने अंधकार छा गया, और उसे ऐसा लगा, मानो सारा संसार ही उसके लिए अन्धकार मय हो गया है। उसका हृदय निराशा और पीड़ा से परिपूर्ण हो उठा। एक बार उसकी इच्छा हुई, कि वह उल्का के पास जाकर उससे कहे, उल्का तू मुझे क्यों तलाक दे रही हो, पर इधर कई महीनों से उल्का उसके साथ जो व्यवहार करती चली आरही थी, उससे उल्का के पास जाने का उसका साहस न हुआ। कैलाश उल्का की नोटिस पर कोर्ट मे भी उपस्थित न हुआ। क्योंकि उल्का से उसकी कोई शिकायत नहीं थी। उसने उल्काको एक पत्र अवश्य लिखा, और उस पत्रमें उसने लिखा—

प्रिय उल्का !

तुम्हारी तलाक की नोटिस मिली। यह तो तुम जानो उल्का कि तुम मुझे तलाक क्यों दे रही हो, पर मै तो इतना ही जानता हूँ, उल्का, कि तुम तलाक देकर भी मेरे परिणय-सूत्र को तोड़ नहीं सकती। तुम न जानो उल्का, पर मै तो जानता हूँ कि हिन्दू स्त्री-पुरुष के परिणय-सूत्र को कानून की पंक्तियाँ क्या, शत शत वज्रका प्रहार भी कदापि नही तोड़ सकता। तलाक दे देने पर भी तुम हमारी ही रहोगी उल्का, और मै सच कहता हूँ, जब कभी भी तुम्हें मेरी आवश्यकता पड़े, तुम मुझे पुकारना ! मै अवश्य पहुँचूँगा उल्का; अवश्य !! ईश्वर तुम्हारी रक्षा करे !

तुम्हारा—
कैलाश।

कैलाश के इस पत्र ने पुनः एक बार उल्का के मन को आन्दोलित किया, और उल्का पुन· कैलाश की ओर आकर्षित हो गई, पर गगन ने उसे फिर अपने अनन्त अक की जो याद दिलाई, तो उल्का पुनः कैलाश को भूल गई और इसी विस्मृति मे उसने अपनी समझ मे कैलाश से परिणय-सूत्र तोड़ लिया।

उल्का अपनी इस विस्मृति पर हँसी, पर आकाशीय उल्काओं में, उसकी इस विस्मृति पर, हलचल मच गई। वे रात में इस प्रकार दौड़ धूप करने लगी, मानों किसी ने उन पर कालिमा पोत दी हो, और वे उसी के कारण अधिक व्यग्र हो उठी हों !

[४]

आज कई दिनों से उल्का अधिक उदास थी। जब देखो, तब उसकी आकृति पर औदास्य बरसता रहता था। उसके मन के भीतर आकुलता भी अधिक थी। उसका मन न तो घर में लगता था, और न

पाठशाला में ही। उसने बीमारी का बहाना करके पाठशाला से छुट्टी ले ली थी। वह प्रायः सबसे अलग एकान्त में बैठी रहती और मन-ही मन विचारों की लहरियों से गोते लगाया करती थी। उसकी चिन्ता के चाहे और जो भी कारण हों, पर एक कारण यह सबसे बड़ा था कि वह जब गगन के घर जाती, तब गगन उससे न मिलता था। उसने गगन के पास कई पत्र भी भेजे, पर गगन ने एक का भी उत्तर न दिया। उल्का को अब ऐसा लग रहा था, मानों गगन उससे अपना पिण्ड छुड़ा रहा है।

उल्का मन ही मन अधिक व्याकुल हो उठी।

दोपहर का समय था। गगन अपने कमरे मे बैठा हुआ विचारों की तरंगो के साथ खेल रहा था। क्या सोच रहा था गगन, कौन जाने? पर कदाचित् वह उल्का के ही सम्बन्ध मे सोच रहा हो। उल्का जब उसके जीवन-आकाश पर चारों ओर से उभर आई थी, तब वह उसे छोड़कर दूसरे के सम्बन्ध में सोच ही क्या सकता था? उल्का की भाँति गगन भी कई दिनों से विचारों मे तन्मय सा रहा करता था। वह प्रायः इधर उल्का के ही सम्बन्ध मे सोचा करता था। उल्का! क्या वह उल्का के साथ विवाह करले, पर जब नारी एक पुरुष का परित्याग कर देती है, तब फिर उसे दूसरे का परित्याग करते हुये देर नहीं लगती। नहीं, वह उल्का के साथ विवाह न कर सकेगा! उल्का जो उसके साथ इतनी दूर आगे बढ आई है, उसमे स्वयं उल्का का ही दोष है। वह उल्का को बुलाने तो गया नहीं था? उल्का क्यों उसके घर आई, और क्यों उसने उस पर अपने सौन्दर्य का जाल फेंका? अब जब उल्का आयेगी, तो वह साफ-साफ कह देगा।

गगन अभी सोच ही रहा था, कि उल्का उसके कमरे मे जा पहुँची, और कुर्सी पर बैठ गई। गगन कुछ न बोला। उल्का कुछ देर तक गगन की ओर देखती रही, फिर मन्द स्वर मे बोल उठी—गगन!

गगन ने उल्का की ओर दृष्टिपात किये बिना ही कहा—क्या बात है उल्का !

गगन की बात से उल्का का हृदय तिलमिला उठा। किन्तु वह अपने हृदय के भावों को हृदय में ही दबा कर बोल उठी-क्या मुझे बताना पड़ेगा गगन !

नहीं उल्का !-गगन ने उत्तर दिया-मैं तुम्हारे हृदय की बात जानता हूँ, किन्तु मैं विवश हूँ उल्का !

उल्का जैसे विस्मय से चकित-सी हो उठी। वह गगन की ओर देख कर शीघ्र बोल उठी—यह क्या कह रहे हो गगन !

मैं सच कह रहा हूँ उल्का !—गगन ने उत्तर दिया।

उल्का के हृदय में आँधी सी दौड़ गई। उसे ऐसा लगा, जैसे उसके अन्तर के कोने कोने में किसी ने आग जला दी हो ! उल्का उसी आग से अधिक उत्तप्त होकर बोल उठी—मुझे अपनी वासना की आग में जला कर अब सच कह रहे हो गगन ! उस समय तुम्हारा सच कहाँ था, जब तुमने मुझे आर्थिक दासता का भय दिखा कर पति से विद्रोह करना सिखाया था और उस समय तुम्हारा सच कहाँ था, जब तुमने मुझे अपने पति को तलाक देने के लिए विवश किया था। गगन तुमने जिस पाप की सृष्टि की है, अब तुम उसका भार उठाने से बच नहीं सकते। मैं चिल्ला-चिल्ला कर लोगों से तुम्हारे पाप की कहानियाँ कहूँगी गगन ! मैं तो डूब ही चुकी हूँ; पर यह न समझो, कि तुम मुझे पाप के महा सागर में डुबो कर स्वयं बच जाओगे।

उल्का जब अपनी बात समाप्त कर चुकी, तब उसकी साँसें तीव्र गति से चल रही थीं, और आकृति क्रोध से आरक्त बन गई थी। गगन ने बड़े धैर्य के साथ उल्का की बातें सुनीं। उल्का जब अपनी बात समाप्त कर चुकी; तब गगन बोल उठा—होश सँभाल कर बात कीजिये उल्का देवी ! आपको जानना चाहिये, कि आप वह स्त्री है,

जिसने अपने पति को तलाक दे दिया है। समाज के हृदय में ऐसी स्त्री के लिये उदारता नहीं होती उल्का देवी! आप चाहे जितना गला फाड़ कर मेरे पाप की कहानियाँ कहे, पर उससे मेरी नहीं, आपही की हानि अधिक होगी।

उल्का के हृदय मे क्रोध की जो आग भड़क उठी थी, वह गगन की इस बात से कुछ शान्त-सी हो उठी। उल्का ने मन ही मन जब अपनी स्थिति पर विचार किया; तब वास्तव मे उसने अपनी नाव को मँझधार में एक ऐसे स्थान में पाया, जहाँ जल चारो ओर से सिमिट कर नीचे की ओर दब रहा था, और दोनो ही ओर का तट आँखों से अलक्ष्य था। उल्का विवश हो उठी, और स्पष्ट रूप से उसकी विवशता उसकी आँखों से नाच उठी। वह कुछ देर तक मनही मन सोचती रही, फिर बोल उठी—फिर सोच लो गगन! आखिर तुम्हीं सोचो, अब मै कहाँ जाऊँ?

मै तो सोच चुका उल्का देवी!—गगन बोल उठा—अब आप ही सोचिये, कि आपको क्या करना चाहिये।

गगन अपनी बात समाप्त करते करते कुर्सी से उठा, और कमरे से बाहर निकल गया। उल्का को ऐसा ज्ञान हुआ, मानों गगन अपने हृदय की सारी भर्त्सना उसके ऊपर बिखेर कर गया है। एक बार उल्का के मन में आया, कि वह उठकर गगन को पकड़ ले और दृढ़ता पूर्वक उससे कहे, कि वह उसे पतन के महासागर मे डुबो कर इस प्रकार स्वयं बच कर नहीं जा सकता, पर जब उल्का को समाज में अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ, तो उसके मन का साहस मन्द पड़ गया और उसके हृदय मे चारो ओर से निराशा और वेदना की लहरें उमड़ पड़ीं। उल्का ने चारो ओर देखा; उसे ऐसा लगा, मानों उसके लिये चारो ओर ही अंधकार अपना भयानक जाल बिछा कर बैठा हुआ है, और उस अंधकार में संसार उसके पथ पर काँटे बिखेर

रहा है। उल्का के हृदय की वेदना उमड़ पड़ी, और वह प्रत्यक्ष रूप से उसकी आँखो मे भी झलक उठी। पर वहाँ मूक दीवालों के अतिरिक्त था ही कौन, जो उल्का की भरी हुई आँखो को देख कर आह की साँसे लेता।

उल्का ने स्वयं अपने हाथो से अंचल का एक छोर उठाया और धीरे से उससे अपनी आँखे, पोछ ली। फिर वह गगन के कमरे से निकल कर बाहर आई और उसने एक बार अपने घर की ओर देखा; पर उसे ऐसा ज्ञात हुआ; मानो विश्व की ही भाँति उसके माता-पिता का घर भी उसके शरीर मे काँटे चुभोने के लिये उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखता हुआ खड़ा है। एक बार उसके मन में कैलाश की स्मृति भी जाग उठी और उसनें सोचा, कि वह क्यों न जाकर कैलाश से ही सहानुभूति की भीख माँगे, पर उसने कैलाश को जो अपमान की आग मे दग्ध किया था; उससे कैलाश के संमुख जाने का उसका साहस न हुआ। उल्का का हृदय निराशा से मथ उठा, और वह एक ओर को चल पड़ी।

कहाँ और किस ओर, यह तो उल्का को स्वयं नही मालूम। उल्का चली जा रही थी और मन ही मन सोच रही थी, 'वह अब क्या करे? उसने पति को तलाक दे दिया और तलाक दे देने के पश्चात् उसके और गगन के पाप की जो सृष्टि हुई, उसे अपना कहने से गगन ने अस्वीकार कर दिया। उल्का अब किस मुख को लेकर समाज के सामने जाय! समाज जब उससे पूछेगा, तब वह क्या कह कर समाज को संतोष प्रदान करेगी! समाज के पास ऐसा कोमल हृदय तो है नही, कि वह अपराधियो के अपराध को क्षमा कर दे, और भटके हुये को अपनी गोद में आश्रय दे! वह तो ऐसे व्यक्तियो को लौह-शलाकाओं से जला-जला कर मारता है।'

उल्का विक्षिप्त हो उठी! उसने एक बार सोचा, वह पाप की उस

सृष्टि को किसी प्रकार बाहर निकाल कर निर्दय समाज के मुँह पर फेंक दे, पर इस पर भी तो समाज उसे क्षमा न करेगा। और यदि समाज उसे क्षमा भी कर दे और उसे अपने अंक मे पुनः आश्रय भी दे दे, पर मूक गगन और मौन पृथ्वी उसे कभी क्षमा न कर सकेगी। उसने अपने निरपराध पति को तलाक दिया है; और उसे अपमान की आग में जलाया है। उसे भी जीवन पर्यन्त जलना पड़ेगा। रात में न उसकी ऑखों में नींद आयेगी, और न दिन में भूख-प्यास की तृप्ति से सुख का अनुभव होगा। वह दिन-रात तड़पती रहेगी, आग में जलती रहेगी। नही, वह समाज के पास जाकर उससे क्षमा न मॉगेगी। वह अब अपने उस जीवन का, जो पाप के धुँये से काला पड़ गया है, अन्त कर देगी, निश्चय अन्त कर देगी।

उल्का के पैर द्रुत गति से आगे बढ़ने लगे। सन्ध्या हो रही थी। भाद्र का महीना था। काले-काले मेघ-खंड आकाश मे मॅडरा रहे थे और उन्ही मेघ खंडो के भीतर से अस्त होता सूर्य इस प्रकार झॉक रहा था, मानो वह उल्का की स्थिति पर व्यंग्य की हॅसी हॅस रहा हो! उल्का ने उस अस्त होते हुये सूर्य की ओर देखा! सूर्य ने बादलो से अपना मुख छिपा लिया। क्या इस लिये, कि वह उल्का के सर्वान्त को न देखे, या इस लिये कि उसे भी उल्का से घृणा हो रही थी!

उल्का सहसा रुक गई। उसने देखा सामने बरसात के गंदे जल के गर्व मे सरिता हर हर करती हुई ऐंठी सी जा रही है। उल्का मन ही मन कह उठी, 'जब समाज की संपूर्ण गन्दगी को अपने भीतर रख लेने पर भी तुम्हारे मन का उल्लास कम नही हुआ है, तो हे सरिता हर्ज ही क्या है, तू समाज की एक और गन्दगी अपने गर्भ में रख ले।' उल्का ने सरिता को हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और फिर वह किनारे पर खड़ी होकर, सरिता के गर्भ में जाने के लिये शक्ति का संचय करने लगी।

उल्का अभी सरिता की ओर देख कर मन ही मन शक्ति संचय कर ही रही थी कि कोई पीछे से बोल उठा—उल्का बार बार भूल करना अच्छा नही!

उल्का ने पीछे फिर कर देखा—हाथ में कमण्डल लिये हुये एक सन्यासी!

उल्का को कण्ठ स्वर कुछ परिचित-सा जान पड़ा। उल्का विस्मित होकर सन्यासी की ओर देखने लगी। सन्यासी ने आगे बढ कर उल्का का हाथ पकड़ लिया, और वह उल्का को अपनी ओर खीचता हुआ कह उठा—उल्का! तलाक दे देने से क्या होता है? एक हिन्दू स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध तो जन्म-जन्मान्तर तक बना रहता है। रही तेरी भटक जाने की बात, उसके लिये मेरे कमण्डल में गंगा का जल है।

उल्का 'मेरे स्वामी' कह कर चीख पड़ी। सन्यासी अपनी गोद में उल्का को लेकर बैठ गया। उल्का उसकी गोद में प्रायश्चित्त की गंगा बहाने लगी, और वह प्यार से उसका सिर सहलाने लगा।

× × × ×

पति पत्नी के इस अनुपम प्यार को देख कर सूर्य फिर बादलों की ओट से निकल आया; मानो इस प्रेम अभिनय को देखने के लिये ही वह अभी तक बादलो में छिप कर बैठा हुआ था।

दोनों की भूल
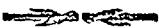
पुलिन ने जब अपना भाषण समाप्त किया और सभा खतम हो गई, तो प्रभा श्रोताओं मे से उठी और पुलिन से मिलने के लिये अवसर खोजने लगी। पुलिन का स्त्रियो के संबंध में महत्त्व पूर्ण भाषण ' सभा की संयोजिका के साथ कई स्त्रियाँ पुलिन को घेरकर खडी थी और उसके भाषण की प्रशंसा कर रही थीं। प्रभा भी उन्ही स्त्रियो मे जाकर मच पर खड़ी हो गई। उसने कई बार साहस किया, कि वह पुलिन से कहे, कि वे कल्ह प्रातःकाल उसीके यहाँ भोजन करें; पर फिर यह सोचकर उसका साहस न हुआ, कि ऐसा न हो, पुलिन उसके निमंत्रण को अस्वीकार कर दे, पर उसके मनमें पुलिन के भाषण से उसके प्रति जो एक मोह का भाव जाग उठा था, वह क्या उसका संवरण कर सकती थी ? नही, प्रभा मन ही मन युक्ति सोचने लगी।

सहसा प्रभा की आकृति प्रसन्नता से चमक उठी। वह कुछ देर तक मन ही मन सोचती रही, फिर वह सभा की सयोजिका के पास जा पहुँची और उसे नमस्ते करके बोली—मै आपकी महिला परिपद की आर्थिक सहायता करना चाहती हूँ। यदि आप कल्ह प्रातःकाल पुलिन के साथ मेरे यहाँ भोजन करे तो बड़ी कृपा हो !

वाह ! इससे बढकर क्या बात हो सकती है !—संयोजिका बोल उठी—भोजन का भोजन, और रुपये का रुपया ! मै तो ऐसे अवसरो की खोज में रहती हूँ। मै अवश्य पुलिन को लेकर आपके घर आऊँगी। आपका पता !

प्रभा ने एक कागज के टुकड़े पर अपना पता लिखकर संयोजिका

को दिया। संयोजिका उसे पढ़ते हुये बोल उठी—तो क्या आप सुरेश-चन्द्र की पत्नी हैं !

प्रभा ने मुसकुराकर अपना सिर हिलाया। संयोजिका प्रसन्नता के रव, में बोल उठी—वाह, अच्छी मुलाकात हुई आपसे ! आइए, पुलिन बाबू से आपका परिचय करा दूँ।

संयोजिका ने प्रभा का परिचय जब पुलिन से कराया और जब दोनों ने एक दूसरे को देखा, तो कह नहीं सकते, कि पुलिन के हृदय में किस प्रकार का भाव जागृत हुआ, पर प्रभा का हृदय तो प्रसन्नता की लहरों से परिपूर्ण हो उठा। प्रभा जब सभा से लौटकर घर गई, तब भी उसके हृदय में प्रसन्नता का सावन सा बरस रहा था। उस दिन रात में प्रभा को नींद न आई। जब सारा संसार बेहोश होकर नींद के हिंडोले पर झूल रहा था, उस समय भी प्रभा का मन पुलिन को लेकर उलझा हुआ था। पुलिन ! स्त्रियोंके संबंधमें कितने उन्नत विचार है पुलिनके ! वह कहता है, स्त्रियाँ देश और समाजकी आत्मा है।"

प्रभा अपने भीतर ही भीतर मग्न हो उठती। पुलिन के एक एक शब्द में, उसकी भाषा की एक-एक लड़ी में प्रभा को नूतनता दिखाई दे रही थी। प्रभा उसकी उस नूतनता पर हृदय से निछावर थी। वह रात भर पुलिन से समाज के अन्यान्य पुरुषो की तुलना करती रही। इस तुलना में पुलिन प्रभा को चन्द्रमा की भाँति शीतल और मन की उद्विग्नता को शान्त करनेवाला ज्ञात हुआ। समाज के अन्यान्य पुरुषों को उसने अग्नि स्फुलिग ही समझा, जो केवल जला देना ही जानते हैं। दो-तीन बार उसने अपने पति सुरेशचन्द्र से भी पुलिन की तुलना की। इस प्रतिद्वन्दिता में भी उसने अग्रसर तो किया पुलिन को ही, किन्तु न जाने क्यों, पुलिन को अग्रसर करते हुये उसके मनमें हिचक भी उत्पन्न हो उठी और फिर उसने पुलिन का अपने पति से तुलना करना ही छोड़ दिया।

प्रभा रात में अधिक देर तक जागती रही और जब तक जागती रही, पुलिन के शब्द चित्र बनकर आते रहे। उन चित्रों को देखते-देखते प्रभा कब सो गई, यह तो उसे भी नहीं मालूम, किन्तु प्रातःकाल जब वह उठी, तो जैसे प्रसन्नता के चक्र पर सवार थी। उसने अपने पति सुरेशचन्द्र को भी पुलिन के आने की सूचना दी, पर सुरेशचन्द्र ने उसमें अपनी कोई विशेष दिलचस्पी प्रगट न की। प्रभा सुरेशचन्द्र की प्रकृति को जानती थी। अतः उसे दुःख भी न हुआ। पर उसने इतना अवश्य कहा, कि यदि वे भी पुलिन के साथ भोजन करें तो अधिक अच्छा हो। सुरेशचन्द्र ने अच्छा कह दिया और प्रभा घर ऑगन में प्रसन्नता के उन्माद में नृत्य करने लगी।

दिन के साढ़े दस बज रहे थे। पुलिन के आने का समाचार जब प्रभा के कानों मे पड़ा, तब प्रभा जैसे प्रसन्नता से विह्वल सी-हो उठी। वह झपट कर द्वार तक चली गई और पुलिन को भीतर के कमरे में लाई। पुलिन जब भोजन करने लगा, तब प्रभा खड़ी-खड़ी उसकी बातें सुनने लगी। पुलिन ने प्रभा को देखा और फिर भोजन करते हुये, उसने प्रभा की प्रशंसा की झड़ी-सी लगा दी। प्रभा पुलिन की प्रशंसा के शब्दों से अपने को धन्य समझने लगी और उसका हृदय पुलिन के और भी अधिक निकट चला गया।

यद्यपि यह प्रभा और पुलिन का आकस्मिक और अल्पकालीन परिचय था, पर इस परिचय से ही पुलिन और प्रभा में एक संबंध-सा स्थापित हो गया। इस संबंध को पुलिन और प्रभा के पारस्परिक पत्रों ने और भी अधिक प्रगाढ बना दिया। अब यदि पुलिन प्रभा के नगर मे आता तो प्रभा के घर पर ही ठहरता। पुलिन जब आता, तब प्रभा उसका हृदय खोलकर स्वागत करती। कभी-कभी वह पुलिन के साथ सभा समितियों में भी जाती। प्रभा के पति सुरेशचन्द्र यह सब कुछ देखते, किन्तु वे कुछ बोलते न थे। वे बड़ी गंभीर प्रकृति के उदार

व्यक्ति थे। स्त्री के संबंध में उनका अपना एक दृष्टि कोण था। वे स्त्री के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने के लिये चिन्तित रहते थे; पर उन्हें इस बात की चिन्ता नहीं रहती थी, कि स्त्री भी अपने कर्त्तव्य का पालन कर रही है, या नहीं। यही कारण था, कि वे प्रभा की ओर से असावधान रहते थे। प्रभा चाहे जो भी करे, उसमें वे बाधक नही बनते थे। वे कहा करते थे, कि पुरुष की तरह स्त्री भी सृष्टि का एक अंश है, अतः स्त्री को स्वयं अपना कर्त्तव्य समझना चाहिये।

पुलिन का जब पहले पहल प्रभा के घर आगमन हुआ था और प्रभा ने जब पुलिन की प्रशंसा सुरेशचन्द्र से करते हुये अपनी रसना तोड़ दी थी, तब सुरेशचन्द्र ने उसे एक साधारण घटना ही समझा था; पर जब उस प्रथम परिचय ने प्रगाढता का स्वरूप धारण कर लिया, तब सुरेशचन्द्र के शान्त समुद्र में लहरें-सी उत्पन्न हो उठी। बोलते तो वे उस समय भी कुछ न, किन्तु उनके मनमें एक खटक-सी उत्पन्न हो उठी। पर वे अपनी खटक को कभी प्रगट न होने देते। प्रभा और पुलिन की बातचीत को सुनते, उनके पारस्परिक व्यवहारों को देखते और हँसकर टाल दिया करते थे। वे प्रभा और पुलिन से अपने को बचाते भी थे। पुलिन जब उनके घर आता, तो या तो वे कहीं बाहर चले जाते, या दोनों की ओर से उदासीन रहते थे, पर प्रभा को सुरेश का यह काम अच्छा न लगता था। वह पुलिन का हृदय से स्वागत अवश्य करती थी, पर यह कभी न चाहती थी, कि सुरेशचन्द्र पुलिन के आने पर घर से बाहर चले जायँ! इसके प्रतिकूल प्रभा चाहती थी, कि सुरेशचन्द्र भी उसकी और पुलिन की बातचीत मे भाग ले, पर सुरेशचन्द्र बातचीत जो बहुत कम करते थे, इसलिये प्रभा उनसे अधिक आग्रह न करती थी।

प्रभा, पुलिन और सुरेशचन्द्र तीनों जीवन पथ पर अग्रसर होने लगे; पर तीनो के मनमे एक दूसरे के प्रति विभिन्न भाव उठ रहे थे, जिनसे कदाचित् तीनों ही अपरिचित थे!

[२]

सुरेशचन्द्र शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे। वे बोलते कम थे; पर विचार अधिक करते थे। उनकी प्रकृति में समानता थी, उदारता थी। वे नारी को सृष्टि की मूलशक्ति समझते थे; पर वे पुरुष की तरह स्त्री के लिये भी नियमों का होना आवश्यक मानते थे। वे जानते थे, कि स्त्री राष्ट्र और समाज की आत्मा है, पर वे यह मानने के लिये तैयार न थे, कि स्त्री को नियमों से मुक्त कर दिया जाय। इसके विपरीत पुलिन की यही राय थी। पुलिन जब स्त्रियों की सभाओं में भाषण करता, तो इसी बात पर जोर देता, कि स्त्री को जहाँ तक हो सके, अधिक से अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। वह यह भी कहता, कि आज जो स्त्री जीवन के विकास की गति रुक गई है, उसका कारण यही है, कि आज स्त्री से उसकी प्रकृत स्वतंत्रता छीन ली गई है। प्रभा के घर जब पुलिन आता और उससे बातचीत करता, तो वहाँ भी उसकी बातचीत का यही विषय होता था। प्रभा चाहती थी, कि उसके पति सुरेशचन्द्र भी बातचीत में भाग लें, पर सुरेशचन्द्र प्रायः पुलिन की बातचीत से अपने को अलग ही रखने का प्रयत्न करते थे। इसका कारण यह तो था ही, कि सुरेशचन्द्र शान्त प्रकृति के व्यक्ति थे, पर इसका कारण यह भी था, कि सुरेशचन्द्र पुलिन के विचारों से सहमत न थे। यही नहीं, वल्कि वे मन ही मन उसके विचारों को समाज और राष्ट्र के लिये अहितकर भी कहते थे। पर वे प्रगट रूप से कभी पुलिन का विरोध न करते। दो एक बार ऐसा भी अवसर उपस्थित हुआ, जब पुलिन ने उसके साथ भी चाय पीते हुये स्त्री-पुरुष पर बातचीत आरभ कर दी। पुलिन ने उनके सम्मुख स्त्री जीवन का स्वतत्र चित्र अंकित कर दिया। पुलिन को विश्वास था, कि सुरेश-चन्द्र अपनी भी सम्मति कुछ प्रगट करेंगे, पर सुरेशचन्द्र ने कुछ उत्तर न दिया। वे केवल हँसकर रह गये। पुलिन को उनकी वह

हँसी बड़ी भयानक लगी और उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों सुरेशचन्द्र ने उसकी उपेक्षा की हो। सुरेशचन्द्र की इस प्रकृति से कभी-कभी पुलिन के मनमें क्षोभ भी उत्पन्न हो जाता और वह यह सोचने लगता, कि वह अब प्रभा के घर न रहा करेगा, पर प्रभा के प्रति उसके मनमें जो मोह उत्पन्न हो गया था; और उसके प्रति प्रभा का जो मनोहर व्यवहार होता था, पुलिन उससे दृढ़ता पूर्वक बँधा हुआ था। वह सोचता अवश्य था, पर इस बंधन को तोड़ने का उसका साहस न होता था।

प्रभा के प्रति सुरेशचन्द्र के हृदय में अतुल प्रेम था। वे इस बात को मानते हुये भी, कि सरिता की भाँति स्त्री को भी नियमों के कूलो के अन्तर्गत ही रहना चाहिये, प्रभा को अपनी ओर से बिलकुल स्वतंत्र किये हुये थे। सुरेशचन्द्र प्रभा के किसी भी काम में बाधा नही डालते थे और डालना भी नही चाहते थे। यदि प्रभा सुरेशचन्द्र की दृष्टि में कभी कोई अनुचित काम करती तो सुरेशचन्द्र या तो उसकी ओर ध्यान न देते, या उसे भूल जाने का प्रयत्न करते थे। प्रभा और पुलिन के पारस्परिक मेल-मिलाप में भी सुरेशचन्द्र की यही भावना काम कर रही थी। प्रभा का जब पुलिन से प्रथम परिचय हुआ, तब उस समय भी सुरेशचन्द्र ने बाधा उपस्थित न की और उस समय भी उन्होंने किसी प्रकार का अवरोध खड़ा न किया, जब पुलिन और प्रभा का पारस्परिक परिचय सीमा को लाँघकर दूर निकल गया था।

पर कभी कभी सुरेशचन्द्र के मनमें विषाद की एक लहर उत्पन्न हो जाती। वे जब पुलिन और प्रभा को परिचय के मार्ग पर सीमा को लाँघते हुये देखते, तब उनके मनमें विक्षोभ जाग उठता और वे सोचने लगते, कि प्रभा को आगे बढ़ने से रोक ले, पर कहीं प्रभा इससे क्षुब्ध न हो जाय और क्षुब्ध होकर कहीं और भी अधिक तीव्र गति से सीमा पार जाने के लिये कटिबद्ध न हो जाय! सुरेशचन्द्र अपने

भीतर विषाद रखकर मौन हो जाते ! प्रभा उनके इस मौन को उनकी प्रकृति समझती। वह जैसे एक बरसाती नदी की भाँति आगे बढ़ी जा रही थी। वह भूल गई थी, कि उसका कूल कहाँ है और उसके कूल पर स्थित पेड़-पौधे उसकी हरहराती हुई प्रचंड गति से कितने विकंपित हो उठे है। पुलिन मन ही मन प्रभा की इस गति को भी देखता और देखता, सुरेशचन्द्र की उस उदासीनता को भी, जो प्रभा की तीव्र गति को देख करके भी अपने स्थान पर अडिग बनी हुई थी। पुलिन को प्रभा की गति पर उतना आश्चर्य न होता, जितना आश्चर्य उसे सुरेशचन्द्र की उदासीनता पर हुआ करता था। प्रभा ऐसी सैकड़ों स्त्रियाँ पुलिन के संपर्क मे आ चुकी थीं, पर सुरेशचन्द्र ऐसा एक भी पुरुष अभी तक उसके दृष्टि-पथ मे न आया था। पुलिन सुरेशचन्द्र और प्रभा की स्थिति पर मन ही मन विचार किया करता था। वह सोचता, सुरेशचन्द्र क्यों, क्यों प्रभा की ओर से इतने उदासीन रहते है ? वे क्यों प्रभा को उसके साथ एकान्त में छोड़ देते है और क्यों प्रभा की इच्छा होने पर भी उसकी बातचीत मे भाग नहीं लेते ? वह जब प्रभा के घर जाता है, तब वे क्यों बाहर चले जाते है ? पर यह प्रभा ! जब सुरेशचन्द्र बाहर जाने लगते है, तब वह क्यों उन्हें बाहर जाने से रोकती है। यह सच है, कि वह उनसे कभी अधिक आग्रह नही करती, पर उनके बाहर जाने से उसे प्रसन्नता भी तो नही होती ! उसकी सदा एक ही सी गति रहती है। सुरेशचन्द्र घर रहें या न रहें, उसके व्यवहारो मे किसी प्रकार का परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होता। विचित्र स्त्री है प्रभा और विचित्र पुरुष है सुरेशचन्द्र; पर यह तो निश्चय है, कि सुरेशचन्द्र उसकी ओर से उदासीन रहते है और प्रभा को इस बात का बड़ा दुःख भी है। प्रभा अपने दुःख को निःसन्देह प्रगट नहीं करती, पर फिर भी उसका दुःख उसकी आँखो मे झलक ही जाता है। बेचारी प्रभा ! सुरेशचन्द्र उसका मूल्य ।

पुलिन के हृदय में प्रभा के प्रति एक सहानुभूति सी जाग उठती। प्रभा की आकृति पर सौन्दर्य भी कुछ कम नही था। पुलिन के हृदय में प्रभा के सौन्दर्य ने पहले ही एक आकर्षण उत्पन्न कर दिया था। अब जब प्रभा के मृदु व्यवहारों के संपर्क में पुलिन आया और उसके हृदय में प्रभा के प्रति सहानुभूति भी जाग उठी, तो उस आकर्षण ने और भी अधिक प्रगाढ़ स्वरूप धारण कर लिया। अब पुलिन प्रभा के और भी अधिक सन्निकट पहुँचने का प्रयत्न करने लगा, अब उसके व्यवहारों में कुछ नवीनता आ गई। अब पुलिन की दृष्टि भी बदल गई। कई बार प्रभा ने पुलिन की उस दृष्टि को देखा, किन्तु वह मौन ही रही। कई बार ऐसा भी हुआ, कि प्रभा का कर स्पर्श भी पुलिन को हो गया; पर फिर भी प्रभा के अधर न खुले! प्रभा ने समझा, संयोग की बात है और पुलिन ने समझा, यह प्रभा का उसके लिये निमंत्रण है। प्रभा मौन रह गई; पर पुलिन के दैनिक व्यवहारों में सजीवता आ गई और ऐसा लगा, जैसे वह अब प्रभा की ओर अग्रसर होने के लिये अधिक साहसी बन गया हो।

जाड़े के दिन थे। दो बज रहे थे। पुलिन प्रभा के कमरे मे कुर्सी पर बैठा हुआ था। इधर वह कई दिनों से प्रभा के भीतरी कमरे में भी आने लगा था। पहले वह बाहरी बैठक ही तक रहता था। जब आवश्यकता पड़ती थी, तो प्रभा स्वयं चली जाती थी। पर इधर जबसे पुलिन के व्यवहारों में सजीवता जाग उठी है, उसने अपने कई पुराने नियम तोड़ डाले है। प्रभा ने भी इसका विरोध नहीं किया, इसलिये पुलिन की सजीवता में भीतर ही भीतर और भी अधिक सक्रिय पंख जुट गये।

प्रभा जमीन पर चटाई बिछाकर बैठी हुई थी और सुरेशचन्द्र के लिये मशीन से कमीज सी रही थी। उसकी आकृति पर गंभीरता थी। ऐसा ज्ञात होता था, मानो वह हाथ से मशीन चलाते हुये मनसे

विचारों में तन्मय हो। पुलिन प्रभा की उस गंभीरता को बड़े ध्यान से देख रहा था, कुछ देर के पश्चात् पुलिन अपने आप ही बोल उठा—प्रभा !

पुलिन के कंठ मे स्निग्धता थी और ऐसा लगता था, मानों उसके कठ-रव को किसी चीज ने ग्रस्त कर लिया हो। प्रभा विस्मय पूर्वक पुलिन की ओर देख उठी। पुलिन आँखों में कुछ भरकर प्रभा की ही ओर देख रहा था। प्रभा ने एक बार पुलिन की उस दृष्टि को देखकर अपना ध्यान पुनः मशीन की ओर आकृष्ट कर लिया और मशीन की ओर देखते ही देखते वह बोल उठी—कहिये, पुलिन बाबू !—

जब देखो, तब गृहस्थी के ही काम काज में तुम जुटी रहती हो प्रभा,—पुलिन बोल उठा—अरे छोड़ो उस काम को इस समय ! आवो कुछ बाते करें।

और पुलिन ने कमीज की ओर अपना हाथ बढा दिया, कि कमीज उठाकर अलग कर दे, पर पुलिन का हाथ पहुँचने के पहले ही प्रभा ने कमीज पकड़ ली और साथ ही साथ बोल उठी—नही, पुलिन बाबू, कमीज सी लेने दीजिये।

प्रभा की बात समाप्त होने के साथ ही साथ पुलिन का हाथ भी कमीज के पास जा पहुँचा और वह कमीज पर इस प्रकार पड़ा, कि प्रभा का हाथ पुलिन के हाथ मे आ गया। प्रभा ने पुलिन की ओर देखा, पुलिन प्रभा की ओर देख रहा था। न जाने क्यों, पुलिन की उस दृष्टि से प्रभा के भीतर झनझनाहट-सी उत्पन्न हो उठी और वह पुलिन की ओर देखती ही रह गई। कह नही सकते, प्रभा की उस दृष्टि में क्या था; पर पुलिन को प्रभा की उस दृष्टि से कुछ विशेष प्रोत्साहन न मिला, फिर भी पुलिन के मन के भीतर जो ज्वार उठ रहा था, उससे वह प्रभा के हाथ पर अपना हाथ रक्खे हुये उसकी ओर देखता ही रह गया।

प्रभा और पुलिन, अभी दोनों एक दूसरे की ओर देख रहे थे,

कि सुरेशचन्द्र क़मरे के द्वार पर आ गये। सुरेशचन्द्र ने देखा, प्रभा का हाथ पुलिन के हाथ में है और दोनों ही एक दूसरे की ओर देख रहे है। सुरेशचन्द्र कुछ क्षण तक कमरे के द्वार पर खड़े रहे। इन कुछ क्षणों में ही सुरेशचन्द्र के हृदय में कई प्रकार के भाव उठे और उठकर अपने आप मिट गये। उन भावों में क्रोध और ईर्षा के भी भाव थे, पर सुरेशचन्द्र ने बड़ी दृढ़ता से उन भावों को दबाया और वे कमरे में प्रवेश करते हुये बोल उठे—प्रभा, मुझे इसी समय काशी जाना है। एक बड़ा आवश्यक काम आ गया है।

सुरेशचन्द्र को देखते ही पुलिन ने झट अपना हाथ खींच लिया और प्रभा ने पुलिन की ओर से अपनी दृष्टि हटाकर सुरेशचन्द्र की ओर देखा। सुरेशचन्द्र पुलिन की ओर एक तिरछी दृष्टि से देखकर अपने कपड़े के बाक्स के पास जा चुके थे। प्रभा अपने स्थान से ही बोल उठी—नही, आज काशी न जाइए।

नहीं प्रभा!—सुरेशचन्द्र ने अपने कपड़े ठीक करते हुये उत्तर दिया—आज मुझे काशी जाना ही होगा।

प्रभा ने सुरेशचन्द्रकी ओर देखा। सुरेशचन्द्र बिना प्रभाकी ओर देखे हुये ही अपने कपड़े ठीक करते जा रहे थे। प्रभा पुनः बोल उठी—न जाने क्यों, आज मेरी तबीयत डूबी जा रही है, आप आज काशी न जाइए।'

प्रभा के स्वर में आर्द्रता थी। सुरेशचन्द्र ने कपड़े ठीक करते हुये प्रभा की ओर देखा। प्रभा की आँखों में सुरेशचन्द्र ने जो कुछ देखा, उससे सुरेशचन्द्र के भीतर को दृढ़ता शिथिल हो गई और वे मन ही मन सोच उठे, कि काशी जाने का विचार अब छोड़ दे, पर जब उन्होने पुलिन की ओर देखा, जो अब भी प्रभा की ओर देख रहा था, तो उनके भीतर की दृढ़ता में पुनः जीवन आ गया और वे बोल उठे—तबीयत तुम्हारी ठीक हो जायगी प्रभा! पुलिन बाबू तो हैं ही! डाक्टर को बुलाकर दिखा लेना।

प्रभा ने सुरेशचन्द्र की ओर देखा। प्रभा की आँखों में विस्मय था। प्रभा कुछ बोल तो न सकी, पर उसकी वे आँखें! सुरेशचन्द्र यदि उसकी उन आँखों को देख सके होते तो कदाचित् उनके भीतर जो उठ रहा था, वह न उठता और कदाचित् वे उसकी उपेक्षा करके काशी भी न चले जाते।

प्रभा सन्देह के दोलपर झूलने लगी और उसके मनमें रह-रहकर यही बात उत्पन्न होने लगी, कि कहीं पुलिन और उसके परिचय की प्रगाढ़ता ने सुरेशचन्द्र के हृदय मे विष .. !

[३]

एक महीने बीत गये थे।

दोपहर का समय था। सुरेशचन्द्र काशी के एक मकान में पलँग पर पड़े हुये थे। उनका मन चिन्तित था। ऐसा लगता था, मानों वे कुछ सोच रहे हों। उनके सामने पलँग पर कई कागज-पत्र पड़े थे, और वे उन्हें बारी-बारी से उठाकर पढ रहे थे। जैसे उनमें कोई गंभीर समस्या हो। सुरेशचन्द्र उनमें से किसी एक को कभी पढ़कर अधिक गभीर बन जाते थे; और साथ ही साथ कुछ सोचने भी लगते थे। सचमुच उनमे सुरेशचन्द्र के लिये एक गंभीर समस्या ही थी। वे कागज पत्र प्रभाकी चिट्ठियाँ और लिफाफे थे। सुरेशचन्द्र जबसे काशी आये, फिर लौटकर अपने घर न गये। उन्होंने काशी आने पर प्रभा को लिख दिया, कि वे अभी कुछ दिनों तक काशी में ही रहेंगे। प्रभा को सुरेशचन्द्र का यह विचार अरुचिकर ज्ञात हुआ, किन्तु उसको विस्मय इसलिये न हुआ, कि सुरेशचन्द्र इसके पहले भी कई बार महीनों काशी मे रह चुके थे। विस्मय तो प्रभा को तब हुआ, जब सुरेशचन्द्र ने पहले की भाँति पत्रों का लिखना बन्द कर दिया। सुरेशचन्द्र ने एक महीने में दो-तीन पत्र प्रभा को लिखे थे; पर सुरेश-

चन्द्र के इन पत्रों में पहले की भाँति उनका हृदय न था। इसके प्रतिकूल जैसे पत्रों में उदासीनता-सी लिपटी रहती थी। प्रभा का ध्यान पहले तो सुरेशचन्द्र की उदासीनता की ओर न गया, किन्तु जब उसने देखा, कि सुरेशचन्द्र अब केवल उसका कुशल समाचार पूछने के अतिरिक्त पत्र में और कुछ नहीं लिखते, तब प्रभा के हृदय को जैसे एक आघात-सा लगा और वह रह-रहकर अपनी और सुरेशचन्द्र की स्थिति पर विचार करने लगी। जब वह विचार करने लगी, तब उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों वह अपने वास्तविक जीवन-पथ को छोड़कर बहुत दूर निकल गई है। उसे ऐसा भी ज्ञात हुआ, मानों सुरेशचन्द्र उसके हाथ से निकलते जा रहे हैं, दूर, बहुत दूर!! प्रभा का हृदय तिलमिला उठता; और वह सुरेशचन्द्र के पास जाने के लिये विकल हो उठती। प्रभा विकल तो हो उठती, किन्तु कुछ कहती न। पुलिन प्रभा की इस विकलता को जान तो सकता ही नहीं था, जान सकने का प्रयत्न भी न करता था।

पुलिन प्रभा के ध्यान में था, या नहीं, कह नहीं सकते, किन्तु वह सुरेशचन्द्र के ध्यान में अवश्य था। घर से दूर, काशी में होने पर भी सुरेशचन्द्र की आँखों के सामने एक चित्र अंकित हो जाता था। वह चित्र! पुलिन प्रभा का हाथ पकड़े हुये उसकी ओर देख रहा था और प्रभा मौन थी। जब यह चित्र सुरेशचन्द्र की आँखों के सामने खिंच उठता, तब सुरेशचन्द्र सोच उठते, 'स्वतंत्रता! क्या यह स्वतंत्रता है, कि अवसर पाकर एक पति से उसकी पत्नी को छीन ले। यह स्वतंत्रता नहीं, यह तो वह पराधीनता है, जो मानव के भीतर घुसकर उसके हृदय में से उसका सब कुछ निकाल लेती है।' पुलिन के प्रति सुरेशचन्द्र के हृदय में क्रोध भी उत्पन्न हो जाता; और वे मन ही मन उसे दंड देने की बात भी सोचने लगते; पर जब वे प्रभा की ओर देखते, तो उनका हृदय प्रभा के प्रति भी अनुदार हुये बिना न रहता।

वे सोचने लगते, 'प्रभा ! प्रभा को मैंने कितनी स्वाधीनता दी थी। एक पति के हृदय में पत्नी के लिये जितना प्यार हो सकता है, वह सब मेरे हृदय में था और मैंने वह सब प्रभा को दे रक्खा था ! मैंने कभी नहीं समझा, कि प्रभा पत्नी है, इसके विपरीत मैंने सदा समझा, कि प्रभा जीवन के मार्ग पर मेरी जीवन सहचरी है, पर प्रभा ने मेरे गर्व और विश्वास को तोड़ दिया। अब जब विश्वास ही नहीं, तब प्रभा चाहे जहाँ रहे ! चाहे जहाँ रहे, कुशल से रहे !' सुरेशचन्द्र का हृदय मथ उठता, और उन्हे ऐसा ज्ञात होता, मानों उनका हृदय चीत्कार कर रहा है।

× × ×

दोपहर का समय था। सुरेशचन्द्र प्रभा की चिट्ठियाँ पढ रहे थे। चिट्ठियाँ पढते समय उनकी आँखों के सामने वह चित्र भी बन जाया करता था, जिसमें पुलिन प्रभा का हाथ पकड़े हुये उसकी ओर देखता हुआ दिखाई दे रहा था। सुरेशचन्द्र मन ही मन कभी पुलिन पर विक्षुब्ध हो रहे थे, तो कभी प्रभा पर। प्रभा पर विक्षुब्ध होते हुये वे यह भी सोच जाते थे, कि अब वे लौटकर घर कभी न जायँगे। यदि प्रभा कभी उन्हे बुलाने के लिये भी आयेगी, तो वे उससे साफ-साफ कह देंगे, कि वह जाकर पुलिन के साथ रहे। अब उनका और उसका क्या सरोकार ! कभी-कभी पुलिन के प्रति उनके हृदय मे ईर्षा की आग भी उत्पन्न हो जाती, और उनका हृदय ईर्षा की उस आग में पुलिन को जलाने के लिये भी आकुल हो उठता, पर जब उन्हे प्रभा का ध्यान आता, तब ईर्षा की आग बुझकर घृणा का रूप धारण कर लेती; और वे प्रभा से दूर, बहुत दूर रहने की बात सोचने लगते।

सुरेशचन्द्र प्रभा की चिट्ठियाँ पढ़ते हुये अभी विचारों की तरंगो पर तैर ही रहे थे, कि नौकर ने भीतर प्रवेश करते हुये कहा—तार है बाबू !

सुरेशचन्द्र ने तार के कागज पर हस्ताक्षर करके तार ले
तार को पढ़ते ही सुरेशचन्द्र जैसे किंकर्त्तव्य विमूढ हो गये।
देर तक उनके मुखसे शब्द ही नहीं निकला, और उन्हें ऐसा
जैसे उनकी आँखों के सामने अंधकार-सा छा गया है। फिर कुछ
के पश्चात् जब उन्होंने तार की पंक्तियाँ पढ़ीं, तब उनके हृदय का
कोना विचारों से उद्‌बुद्ध हो उठा, और वे नौकर को बुलाकर
उठे, 'सामान तैयार करो, मुझे इसी समय घर जाना है।'

कुछ ही क्षणों के पश्चात् सुरेशचन्द्र कार से अपने घर की
उड़े जा रहे थे। जब वे घर पहुँचे, तो द्वार पर ताला बन्द था
बाहर एक कानेसटेबुल बैठा हुआ था। सुरेशचन्द्र सब कुछ
गये। वे सीधे पुलिसस्टेशन में जा पहुँचे। उन्होंने देखा, प्रभा हवा
में बन्द है।

सुरेशचन्द्र ने शीघ्र प्रभा को जमानत पर छुड़ाया। प्रभा
निकलते ही रोकर उनके चरणों पर गिर पड़ी, और आर्द्र कंठ से
उठी—मुझसे भूल हुई नाथ ! मैं नहीं जानती थी, कि ऐसे लोग
मानव के रूपमें दानव होते है; पर मै.... ... ।

मुझे तुझपर गर्व है प्रभा !—सुरेशचन्द्र बोल उठे—तुमने
को दंडकर अच्छा ही किया। पर इसमें मेरी भी भूल थी प्रभा।

पति पत्नी दोनों की आँखों में आँसू आये। उनकी आँखों के आँसू
संसार में उनका मूल्य नही आँका जा सकता।
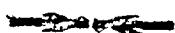
झुलसी हुई लता

जाड़े की रात्रि थी। बारह बज रहे थे। बैरिस्टर प्रबोधचन्द्र जब अपने बँगले में पहुँचे, तब उनका अंग-अंग टूट रहा था। उन्होंने कमरे मे पहुँच कर सुइच दबा दी। कमरा प्रकाश से जगमगा उठा। वे उस प्रकाश में, टेबुल मे लगे हुये बड़े दर्पण के सामने जाकर बैठ गये। आरक्त आँखे, बाल बिखरे हुये, और आकृति पर एक प्रकार की रुक्षता! प्रबोधचन्द्र के मनमे, स्वय उनके ही प्रति एक घृणा-सी उत्पन्न हो उठी। वे दर्पण के सामने से उठकर कमरे मे टहलने लगे। कमरे मे टहलते समय कभी-कभी उनकी दृष्टि दर्पण पर जा पड़ती थी और जब दर्पण पर जा पड़ती थी, तब उन्हें अपनी उसमें आकृति भी दिखाई पड जाती थी। प्रबोधचन्द्र का मन न करता था, कि वे अधिक देर तक दर्पण की ओर देखे। वे जब दर्पण की ओर देखते थे, तब शीघ्र ही उसकी ओर से अपनी आँखे भी फेर लेते थे और ऐसा लगता था, जैसे वे विचारों में तन्मय से हो जाते थे।

सचमुच जाड़े की उस जन-रव-शून्य रात्रि मे प्रबोधचन्द्र को, उनको अपना जीवन दुख का एक भार-सा ज्ञात हो रहा था। वे जब तक बाहर रहते, अपने हृदय मे उठते हुये ज्वार को भूल जाने का प्रयत्न करते, किन्तु जब अपने बँगले में पहुँचते, तो उनके हृदय मे शत-शत ज्वार-तरंगे एक साथ ही उठ पडतीं और उन्हें ऐसा लगता, मानों उनका हृदय एक वह समुद्र है, जो झंझावात के कारण ऊँची-ऊँची तरंगों से परिपूर्ण हो उठा है। प्रबोधचन्द्र अपने को चिन्ता से मुक्त करने के लिये कभी-कभी शराब भी पी लेते थे और जिस दिन शराब पी लेते थे, उस दिन रात्रि में उनसे कोई न कोई ऐसा काम अवश्य

हो जाता था, जो दूसरों की दृष्टि में निन्दित होने पर भी उनकी दृष्टि में भला ही जँचता था।

उस दिन भी रात्रि में प्रबोधचन्द्र शराब पीकर आये थे। शरा के नशे में उनकी आकृति कुछ विकृत-सी हो गई थी और मन कुछ भार-सा ज्ञात हो रहा था। भीतर से उनके विचार उठ-उठ थे, पर जैसे शराब का उन्माद उन्हें भी थपकी दे-देकर सुला रहा है। प्रबोधचन्द्र को ऐसा ही होता था। वे जब शराब पीते थे, तब या तो सो जाते थे और या फिर गंभीर बन जाते थे। प्रबोधचन्द्र गंभीरता के प्रवाह में बहे जा रहे थे; पर उनका अंग-अंग जो टूट रहा था, उससे उनकी गंभीरता की गति बीच-बीच में टूट जाती थी और उनके भीतर जैसे आकुलता-सी ज्ञात होने लगती थी। प्रबोधचन्द्र ने कमरे में टहलते हुये एक बार जोरो की अँगड़ाई ली, फिर वे बोल उठे—लता!

रात्रि के बारह बज रहे थे। चारों ओर स्तब्धता छाई हुई थी। प्रबोधचन्द्र का स्वर उसी स्तब्धता में डूबकर रह गया और उन्हे कोई उत्तर न मिला। उन्होंने कुछ देर तक प्रतीक्षा की और फिर आवाज दी, लता!

एक बार, दो बार तीन बार! प्रबोधचन्द्र जोर से चिल्ला उठे। मानो रात्रि की स्तब्धता को भंग करने के लिये उसकी छाती पर जोर-जोर से पैर पटक रहे हों!

बगल के कमरे में कोई उठा और कमरा प्रकाश से जगमगा उठा। प्रबोधचन्द्र उसी कमरे की ओर देख रहे थे। द्वार पर किसी को देख-कर वे शीघ्र ही बोल उठे—तू मर गई थी क्या? बहरा होता, वह भी सुन लेता; पर तुम्हारे कानों में जैसे वज्र की कीलियाँ ठोकी गई हैं। जा, चाय बना ला!

बीस, बाइस वर्ष का वय, गोर वर्ण, आकृति पर भोलापन बरस

रहा था। सौन्दर्य भी उसके साथ था; पर जैसे झुलस गया था। जैसे उसके हृदय के भीतर दिन रात चिन्ता की कोई आग जलती रहती हो, और उसी में पड़कर उसके शरीर का सर्वस्व झुलस गया हो! बिजली बत्ती के उस प्रकाश में वह ऐसी खड़ी थी, जैसे प्रचंड सूर्य की गर्मी से जली हुई कोई लता हो! उसका भी नाम लता ही था और वह बैरिस्टर प्रबोधचन्द्र की पत्नी थी। जब उसके पिता ने प्रबोधचन्द्र के साथ उसका विवाह किया था, तब प्रबोधचन्द्र के हृदय में चाहे जो भी भाव लता के प्रति रहे हों, पर जब वे बैरिस्टरी पास करके विलायत से आये, तब उनकी दृष्टि में लता एक ऐसी स्त्री दिखाई देती थी, जिसमें स्त्रीत्व के नाम पर कुछ भी न था। लता शीघ्र ही प्रबोधचन्द्र के मन से उतर गई। वह उनके साथ रहती अवश्य थी, पर उसी तरह जैसे कोई झुलसी हुई लता वृक्ष की डाल से लिपटी रहती है। प्रबोधचन्द्र के मनमें कभी-कभी यह भी विचार आता, कि वे लता से अपने को मुक्त कर ले। इसी विचार से वे प्रायः लता के शरीर और मनमें, अपमान की कीलें चुभोते और उसे उपेक्षा की आग में जलाते। ऐसा एक भी दिन खाली न जाता, जिस दिन रोटियाँ खाते हुये लता की आँखों से आँसू न झरते, पर फिर भी लता कभी अपनी डाल से मुक्त होने का विचार तक न करती थी। वह नौकरों की तरह बँगले का सारा काम करती, रोती, तड़पती और पीड़ा का संसार लिये हुये दिन रात एक कमरे में पड़ी रहती, पर कभी यह न सोचती, कि वह जिस डाल से लिपटी हुई है, उसे छोड़ दे, या यह कहना चाहिये, कि उसमें सोचने की शक्ति ही नही थी। वह एक ऐसी स्त्री थी, जो पुरुष को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानती है और उसके द्वारा प्रपीड़ित होने पर भी मूक की भाँति, चुपचाप उसके साथ आगे बढ़ना ही अपना धर्म समझती है।

लता! मूक आकाश भी लता के आँसुओं को देखकर तड़प उठता

होगा; पर प्रबोधचन्द्र के हृदय में कभी भी लता के प्रति सहानुभूति उत्पन्न नहीं होती थी। ऐसा नहीं था, कि वे लता के आँसुओं को देख न पाते हों! देखते तो वे भी थे लता के आँसू; पर जब वे देखते थे, तब क्रोध से उबल पड़ते थे और लता को दो-चार खरी खोटी सुनाये बिना नहीं रहते थे। यही कारण था, कि लता जब उनकी आँखों के सामने जाती, या जब वे बँगले में होते तो अपने हृदय के उन छिद्रों को, जिनसे होकर आँखों में आँसू उतरते है, बल पूर्वक बन्द रखती थी। लता प्रबोधचन्द्र को चिन्तित भी करना नही चाहती थी। जब उसने समझ लिया कि प्रबोधचन्द्र को उसकी छाया से भी घृणा है, तब वह अपने आपको अपने आप ही प्रबोधचन्द्र से दूर रखने का प्रयत्न करती थी, पर फिर भी प्रबोधचन्द्र दिन रात चिन्ता की आग में तो जलते ही रहते थे, वे अपना अधिकांश समय बॅगले के बाहर ही रहकर बिताते थे। दस बजे जब कोर्ट जाते, तब रात्रि के बारह बजने से पहले कभी बँगले में लौटकर न आते थे। लता प्रबोधचन्द्र के मन की उस गति को देखती थी और मन ही मन अधिक पीड़ित भी होती थी। कई बार उसने इस बात का प्रयत्न भी किया, कि प्रबोधचन्द्र के मन से चिन्ता की आग निकल जाय, पर उसे सफलता न मिली। प्रबोधचन्द्र कभी उसे अपने जीवन की परिधि में जाने ही नहीं देते थे।

लता दूर से जो कुछ कर सकती थी, करती थी। पर जिस प्रकार सक्रामक रोगी के शरीर में, रोग के कीटाणुओं का सर्वनाश करने के लिये इंजेक्शन लगाना परमावश्यक होता है, उसी प्रकार पुरुष के मन की उद्भ्रान्तता को दूर करने के लिये स्त्री को उसके जीवन की परिधि में जाना अनिवार्य-सा होता है, पर जो पुरुष स्त्री को अपने जीवन की परिधि में जाने ही नहीं देता, तो फिर स्त्री उत्कंठित होने पर भी उसके लिये क्या कर सकती है? लता भी प्रबोधचन्द्र के लिये, चाहने पर

भी कुछ कर न पाती थी। प्रबोधचन्द्र चिन्ता की आग में भस्म होने जा रहे थे औ लता विवश होकर देख रही थी।

प्रबोधचन्द्र ने जब लता को चाय बनाने की आज्ञा दी, तब लता ने द्वार पर स्थित होकर प्रबोधचन्द्र को देखा। प्रबोधचन्द्र की आकृति विकृति हो उठी थी और ऐसा लगता था, मानों उन्हें कोई महा पतन की ओर खींचे जा रहा है। लता के हृदय में करुणा जाग उठी और वह आकुल-सी होकर प्रबोधचन्द्र की ओर देखने लगी। प्रबोध-चन्द्र, जो भीतर ही भीतर जल रहे थे, पुनः बोल उठे—देखती क्या है, जाकर जल्दी चाय बना ला!

बाहर शीत बरस रहा था और भीतर भी उसने अपना संपूर्ण आधिपत्य स्थापित कर रक्खा था। गरम कपड़े पहनने पर भी रह-रहकर अधरों पर 'शी' का जाप हो रहा था। पानी ऐसा गल रहा था, मानों बर्फ हो। लता ने एक बार फिर प्रबोधचन्द्र की ओर देखा। बाल बिखरे हुये, मुख पर रूक्षता और नेत्र लाल। लता का मन रो पड़ा और उसे ऐसा लगा, मानों अब उसके भीतर की वेदना उसकी आँखों में उछल पड़ेगी! लता भीतर ही भीतर अपनी वेदना को पी गई और फिर वह चुप-चाप कमरे के भीतर चली गई।

प्रबोधचन्द्र ने बिजली के प्रकाश में लता को देखा। यद्यपि वे लता को प्रतिदिन ही देखते थे, पर विद्युत के उस प्रकाश में लता उन्हें कुछ और ही दिखाई पड़ी। हो सकता है, यह उनकी उन आँखों का प्रभाव हो, जिनमें उन्माद की लहर पूर्ण वेग करके दौड़ रही थी। लता जब कमरे के भीतर चली गई, तब उनके मनमें पाश्चात्ताप जाग उठा और हृदय के एक कोने में यह दुर्बल भाव भी उत्पन्न हो उठा, कि वे लता को . .पर जब उन्होंने अपने कमरे में लगे हुये एक युवती के चित्र को देखा, तब उनके हृदय में उठा हुआ वह दुर्बल भाव भी लुप्त हो उठा। एक बार उनके मन ने उस युवती और लता

की तुलना भी की और जब तुलना की, तब लता उनकी दृष्टि में उसके समक्ष कौड़ियों के बराबर भी न ठहरी। यही नहीं, बल्कि लता उनकी आँखों के लिये पीड़ा के समान भी ज्ञात होने लगी। क्योंकि वह एक ऐसी दीवाल की भाँति खड़ी थी, जो उन्हें उस युवती-को अपना बनाने से रोक रही थी। प्रबोधचन्द्र ने कई बार इस दीवाल को गिरा देने की भी बात सोची और इसमें सन्देह नहीं, कि उनके हाथ आगे भी बढ़े, पर समाज के भय ने उनके मनको तोड़ दिया और वे केवल यंत्रणा से तड़प कर रह गये। लता के प्रति प्रबोधचन्द्र के मनमें जो विरोध का भाव था, युवती के चित्र ने उसे उकसा दिया और प्रबोधचन्द्र कुछ कुछ झुँझलाये से अपनी और लता की स्थिति पर विचार करने लगे।

कितने विचार उठे प्रबोधचन्द्र के हृदय में! विरोध उठकर अपनी सर्वोच्च सीमा पर भी पहुँच गया और प्रबोधचन्द्र एक बार यह भी सोच गये, कि वे लता को किसी प्रकार ......। पर अभी यह विचार उठकर दृढ़ भी न हो पाया था, कि लता ट्रे में चाय का प्याला और चायदानी लेकर कमरे में आई और उसने टेबुल पर ट्रे रख दिया। प्रबोधचन्द्र कुर्सी खींचकर टेबुल के पास बैठ गये। उन्होंने चाय बनाते हुये एक बार लता की ओर देखा। लता चाय का ट्रे रखकर कमरे के भीतर प्रवेश कर रही थी। प्रबोधचन्द्र विचार-मग्न होकर चाय बनाने लगे। उन्होंने सोचते ही सोचते कई चम्मचे शकर चाय मे डाल दी और जब चाय की प्याली ओठों से लगाई, तब चाय ऐसी जान पड़ी, मानों शर्बत हो! शराब का उन्माद पूर्ण वेग पर था ही, प्रबोधचन्द्र गरज उठे—लता!

लता ने पुनः कमरे में प्रवेश किया। पर अभी वह द्वार ही पर थी, कि प्रबोधचन्द्र चाय की प्याली उसके ऊपर फेंककर बोल उठे—वेवकूफ कहीं की, चाय बनाकर लाई है, या शर्बत!

प्रबोधचन्द्र ने अपनी बात समाप्त करने के साथ ही ट्रे और चाय-दानी भी लता के ऊपर फेंक दी। ट्रे लता के पैरों के पास गिरकर झनझना कर रह गया। पर उसके पहले ही चाय का जो प्याला प्रबोध-चन्द्र ने उसकी ओर फेंका था; वह ठीक उसकी छाती पर जा लगा था। प्याला तो गिरकर टूट गया; पर चाय से उसकी साड़ी तर हो गई। चाय का कुछ भाग उसके हाथ और पैर की उँगुलियों पर भी पड़ा, जिससे शीघ्र ही उसकी उँगुलियों में फफोले निकल आये और वह यंत्रणा से छटपटा कर रह गई। उसने मन ही मन कराहते हुये प्रबोधचन्द्र की ओर देखा। प्रबोधचन्द्र की आकृति पर दानवता खेल रही थी। वह अपने कमरे में पलटकर किवाड़ बन्द कर पड़ रही। वह मौन थी; पर उसकी आँखे मौन न रह सकीं। जैसे बरसात के पानी को पाकर नदी और नाले उमड़कर बह चलते है, उसी प्रकार उसकी आँखों से आँसू की धाराये बह चलीं। हो सकता है, उसने अपने अन्तर की वेदना को आँसू के रूपमें गलाकर अपने हृदय को शीतल कर लिया हो, पर प्रबोधचन्द्र का हृदय तो गर्म ही बना रहा। वे बड़ी देर तक कुर्सी पर बैठे हुये लता के ऊपर सोचते रहे। उन्होंने लता के ऊपर सोचते हुये बहुत सी बाते सोचीं। उन्होंने यह भी सोचा, कि अब वे लता के साथ कदापि घुट-घुट कर न मरेंगे और चाहे जिस प्रकार हो, उसे अपने जीवन से विलग कर देंगे।

विचारों की तरंगों से खेलते ही खेलते न जाने कब प्रबोधचन्द्र कुर्सी पर बैठे ही बैठे सो गये। सबेरे जब उनकी नींद खुली, तो उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ, मानों उन्होंने रातको कुछ स्वप्न देखा हो। वे अपने स्वप्न की एक-एक लड़ी को गिनने लगे। लता का भाग्य, उनके स्वप्न की इन लड़ियों ही से तो बँधा हुआ था।

[२]

सत्य और असत्य की तरह स्त्री के भी दो रूप होते है। जिस

प्रकार सत्य से जीवन आलोकित होता है और होता है उसका विकास; उसी प्रकार जब स्त्री अपने वास्तविक स्वरूप में पुरुष के साथ होती है, तब उससे पुरुष को बल मिलता है और उसे अपना ससार स्वर्णिम दृष्टिगोचर होता है; पर कभी-कभी जिस प्रकार सत्य दुर्बल होकर दब जाता है और जब दब जाता है, तब जीवन कंगाल बन जाता है, उसी प्रकार जब स्त्री अपनी वास्तविक शक्ति से वंचित हो जाती है, तब पुरुष का मन दुख और निराशा से भर उठता है। लता भी उस दुर्बल सत्य ही की भाँति थी, जिसे लोग अपने आप दुर्बल बनाकर दुर्बल की संज्ञा दे देते हैं। मैं मानता हूँ, कि सत्य 'सत्य' है; पर यदि उसे असत्य के जलते हुये अंगार में झोंक दिया जाय, तो वह झुलसकर निर्बल तो हो ही जायगा।

लता भी निर्बल हो गई थी। प्रबोधचन्द्र ने उसके शरीर और मनको भी निर्बल बनाने में कोई कसर बाकी न रक्खी। उपेक्षा, यंत्रणा; जो कुछ हो सका उनसे, उन्होंने लता को दिया; पर लता ने कभी कुछ आह उफ न किया। वह बराबर दबती ही गई और वे उसे दबाते ही गये। वे उपेक्षा के तमाचे उसके कपोलों पर लगाते और वह केवल आँसू बहाकर रह जाती। वे उसकी आँखों के सामने ही रँगरेलिया करते और वह कलेजे पर पत्थर रखकर टुकुर-टुकुर देखती रहती; पर इधर कुछ दिनों से लता की गति बदल गई थी। वह अब अपनी स्थिति पर सोचने लगी थी और जब वह अपनी स्थिति पर विचार करती, तब उसे ऐसा लगता, कि वह निरपराध है!

लता के मनमें इस विचार ने एक साहस भी जगा दिया और साथ ही साथ स्वयं उसके मनमें भी यह विचार उत्पन्न होने लगा था, कि वह किसी प्रकार जीवन के इस नरक से अपने को बाहर निकाल ले! उसने उसके लिये अपने मन में कई उपाय सोचे; पर किसी पर भी उसका मन स्थिर न हो सका और स्थिर न होने के कई

कारण थे। इधर प्रबोधचन्द्र लता को अधिक सताने लगे थे; और जब सताने लगे थे; तब लता की ओर से उनके मन में संदेह भी जाग उठा था। उन्हें सदैव यह भय लगा रहता था, कि कही लता पिंजड़े से वाहर निकल कर समाज के सामने उनके मुँह पर कालिमा न पोत दे, इस लिये अब वे लता की ओर से अधिक सतर्क भी रहने लगे थे। अब लता के पास बॅगले का कोई नौकर भी जाने नहीं पाता था। उन्होंने आदेश दे रक्खा था, कि कोई लता से बातचीत न करे! यदि वे कभी किसी नौकर को लता के प्रति सहानुभूति दिखाते हुये देखते तो या तो वे उसे निकाल देते थे या फिर क्षमा मॉगने पर ही छोड़ते थे। लता दिन रात अपने कमरे मे पड़ी रहती थी। प्रबोधचन्द्र जब कोर्ट जाने लगते; तब उसके कमरे में ताला भी लगा दिया करते थे। लता भीतर ही भीतर रोती, तड़पती, और दीवालों पर सिर पटक देती थी। सुनते है; ईश्वर सर्वत्र होते है, पर वे लता के कमरे मे भी थे, इसमे सन्देह है।

दिन के साढ़े दस बज रहे थे। प्रबोधचन्द्र एक अतिथि के साथ भोजन कर रहे थे। अतिथि एक स्थानीय पत्र का संपादक था और उसका नाम रमेश था। लता अपने कमरे मे थी। प्रबोधचन्द्र जब रमेश के साथ चौके में जा रहे थे; तब लता ने अपने कमरे में से रमेश और प्रबोधचन्द्र दोनों को देखा! प्रबोधचन्द्र को देख कर तो उसके हृदय में कुछ भी न उत्पन्न हुआ, पर न जाने क्यों रमेश को देख कर उसका मन उमड़ आया और उसका मन सोच उठा, कि वह कमरे से निकल कर क्यों न रमेश के चरणों से लिपट जाय। लता एक बार उठ कर खड़ी भी हुई, पर फिर न जाने वह क्या सोच कर बैठ गई और मन ही मन विचार करने लगी। लता के मन के विचार! प्रबोधचन्द्र सतर्क रहने पर भी उस समय लता की ओर से कुछ निश्चिन्त से थे! हो सकता है, निश्चिन्त न होकर वे भूल गये हों।

रमेश ने भोजन करते हुये एकबार इधर-उधर आँगनकी ओर देखा ! चारों ओर स्तब्धता; और घर की चीजें इधर-उधर बिखरी हुई। रमेश बोल उठा—बैरिस्टर साहब, आपका मेरा और भी संबंध है।

वह क्या ?—प्रबोध चन्द्र रमेश की ओर देख कर कह उठे।

आपकी श्रीमती जी मेरे गाँव की हैं !—रमेश ने बैरिस्टर साहब की ओर देख कर कहा।

अच्छा !—प्रबोधचन्द्र के मुख से विस्मयपूर्वक निकल पड़ा और वे विस्फारित दृष्टि से रमेश की ओर देखने लगे।

पर रमेश ने प्रबोधचन्द्र की मुद्रा की ओर ध्यान न दिया। वह अपने ही प्रकृत स्वर में पुनः बोल उठा—पर लता दिखाई नही दे रही है बैरिस्टर साहब ! आज आपने जब मुझे भोजन पर निमंत्रित किया, तब मुझे यह सोच कर बड़ा हर्ष हुआ, कि चलो इसी बहाने लता से भी मिल लूँगा। हम और लता, दोनों छुटपन में एक साथ खेले हैं बैरिस्टर साहब !

रमेश अपने प्रकृत ढंग से अपनी बात समाप्त करके पुनः भोजन करने लगा। उसने प्रबोधचन्द्र की आकृति की ओर ध्यान न दिया। यदि उस समय उसकी आँखे प्रबोधचन्द्र की आकृति पर पड़ी होती, तो वह देखता, कि प्रबोधचन्द्र की आकृति पर विस्मय अपने पूर्ण यौवन पर था। प्रबोधचन्द्र रमेश की बात सुन कर कुछ स्तंभित से हो उठे। कुछ क्षण तक तो उनकी समझ में ही यह न आया, कि वे रमेश को उसकी बात का क्या उत्तर दें, पर कुछ उत्तर तो देना ही चाहिये था और यदि उत्तर में विलम्ब होता तो हो सकता है, कि रमेश के मन में सन्देह के अंकुर उत्पन्न हो जाते ! प्रबोधचन्द्र मन में बिना कुछ स्थिर किये हुये ही शीघ्रता में बोल उठे—लता आज कल्ह अपने मैके में है रमेश !

रमेश को उत्तर देने के साथ ही प्रबोधचन्द्र ने सतर्क दृष्टि से

आँगन की ओर देखा। उन्होंने समझा था, रमेश उनके उत्तर से संतुष्ट हो जायगा, और वह अब फिर लता के सम्बन्ध मे उनसे प्रश्न न करेगा, पर रमेश शीघ्रही पुनः बोल उठा—लता मैके में है, पर मैं तो कल्ह ही गाँव से लौटकर आया हूँ। लता के पिताजी ने मुझसे कहा भी था, कि आज कल्ह लता अपने पति के साथ प्रयाग में ही रहती है, और मैं उससे मिल कर उसका कुशल समाचार भेज दूँ।

रमेश ने इस बार प्रबोधचन्द्र की आकृति की ओर देखा, और जब देखा, तो इसमे सन्देह नहीं कि उसके मन में सन्देह के अंकुर भी जाग उठे। रमेश की बातों से प्रबोधचन्द के मस्तक पर स्वेद कण झलक आये, और ऐसा ज्ञात हुआ, मानो वे किसी कठिन बन्धन मे बँध गये हैं। रमेश कुछ क्षणों तक प्रबोधचन्द्र की ओर देखता रहा। प्रबोधचन्द्र ने भी रमेश को देखा, जो उन्हीं की ओर देख रहा था। प्रबोधचन्द्र अचकचा कर बोल उठे—आश्चर्य है रमेश! लता तो अपने मैके में ही है! अभी कल्ह ही उसका मुझे पत्र मिला है।.. अच्छा मै उठ रहा हूँ रमेश!

रमेश ने प्रबोधचन्द की ओर देखा। यद्यपि थाल में अभी भोजन अवशेष था और उससे पता चलता था, कि प्रबोधचन्द्र ने अभी अपनी पूरी मात्रा में भोजन नहीं किया, पर फिर भी जब उन्होंने उठने की बात कही, तब रमेश का मन विस्मय से भर गया, और इसलिए विस्मय से और भी भर गया कि यह एक असभ्यता की बात थी। रमेश प्रबोधचन्द्र की ओर देखता देखता कह उठा—हाँ, हाँ, मैं भी उठ रहा हूँ।

पर उसकी बात समाप्त होने के पूर्व ही प्रबोधचन्द्र उठकर खड़े हो गये थे। रमेश भी उठकर खड़ा हो गया। बाहर आकर प्रबोधचन्द्र ने हाथ धोया। और वे फिर सीधे अपने कमरे में चले गये। आकुलता के ज्वार से उनका हृदय परिपूर्ण हो उठा था। उनकी कूटनीतिक

चेतना पर उसी आकुलता के कारण एक आवरण-सा पड़ गया था, और वे सोच नहीं पा रहे थे, कि उन्हें क्या करना चाहिये, और वे क्या कर रहे हैं ? रमेश प्रबोधचन्द्र के विस्मय और उनकी आकुलता को देख कर कुछ सजग सा हो गया। चौके से बाहर निकल कर उसने फिर रहस्य भरी दृष्टि से इधर-उधर देखा ! चारों ओर सन्नाटा। नौकर ने जब रमेश का हाथ धुलाया और हाथ पोंछने के लिये जब उसने हाथ में तौलिया दी, तब रमेश हाथ पोंछता हुआ पुनः इधर-उधर देखने लगा। वह कुछ देर तक हाथ पोंछने के बहाने आँगन में खड़ा रहा, फिर धीरे-धीरे प्रबोधचन्द्र के कमरे की ओर बढा। अभी वह कुछ ही पग आगे बढ पाया था कि उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानो पीछे से किसी ने उसकी जेब में कोई वस्तु डाल दी हो।

रमेश ने चकित हो कर पीछे की ओर देखा ! एक युवती शीघ्रता से सामने के कमरे में घुसी जा रही थी। रमेश कुछ क्षणों तक उसी ओर देखता रहा, फिर उसका ध्यान अपनी जेब पर गया। उसने जेब में हाथ डाल दिया! 'एक लिफाफा!' रमेश के हाथ के साथ साथ लिफाफा जेब से कुछ बाहर निकल आया, पर रमेश ने कुछ सोच कर फिर उसे जेब में ही डाल लिया! उसने फिर एक बार उस कमरे की ओर रहस्य भरी दृष्टि से देखा, और फिर वह प्रबोधचन्द्र के कमरे में जा पहुँचा।

प्रबोधचन्द्र विचारमग्न कुर्सी पर बैठे हुए थे। हो सकता है, वे रमेश की बातों पर विचार कर रहे हों और साथही यह भी सोच रहे हों, कि आकुलता के कारण उनसे जो व्यवहार हो गया है, उससे निश्चय रमेशके मनमें सन्देह उत्पन्न हो गया होगा। यह भी हो सकता है, कि वे अब मन ही मन पछता रहे हों और यह सोच रहे हों, कि क्यो उन्होंने दृढ़ता से काम नहीं लिया और क्यों अपनी उँगुलियो को अपनी ही दुर्बलता का चित्र बनाने दिया? प्रबोधचन्द्र अभी सोच

ही रहे थे, कि रमेश उनके कमरे में पहुँच कर बोल उठा—अच्छा बैरिस्टर साहब, अब आज्ञा दीजिये। आज आपको अधिक कष्ट हुआ!

नहीं, नहीं!—प्रबोधचन्द्र अचकचा कर बोल उठे—ओ, आप अब बैठेंगे नही! अच्छा...!

रमेश ने पुनः प्रबोधचन्द्र की आकृति को ध्यान से देखा! रमेश को उनकी आकृति पर स्पष्टतः आकुलता के चिह्न दृष्टिगोचर हुए। रमेश उन्हे नमस्ते कर कमरे से बाहर निकल गया, और प्रबोधचन्द्र! वे विस्मय और सन्देह के दोल पर अपने कमरे में झूलने लगे। कब तक झूलते रहे; यह निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है?

[३]

सन्ध्या के आठ बज रहे थे। रमेश अपने कमरे में विचार-मग्न बैठा हुआ था। सामने टेबुलपर एक अलार्म घड़ी रक्खी हुई थी, जो खट खट अपने हृदय संगीत को निरन्तर जारी किये हुए थी। घड़ी के हृदय की भांति रमेश का हृदय भी अधिक क्रियाशील था और उससे भी एक प्रकार की ध्वनि निकलकर भीतर ही भीतर गूँज रही थी। भले ही रमेश के हृदय की वह ध्वनि किसी दूसरे को न सुनाई देती रही हो, पर रमेश तो उस ध्वनिको स्पष्टरूप से सुन रहा था। रमेश के हृदय की वह ध्वनि! 'लता! बेचारी लता! उसकी दशा एक उस गाय के ही सदृश है जो एक सिह के पञ्जों में फँसी हुई अपनी आखो से करुणा भर कर सहायता के लिये देख रही हो! यह प्रबोधचन्द्र! वास्तव मे यह मानव के रूप में दानव है। पता नही, ऐसे मनुष्यों को पृथ्वी अपनी छाती पर और आकाश अपनी छाया के नीचे क्यो टिकाये रहता है? हो सकता है। स्वार्थ के उन्माद मे उन्मत्त मानव के कानों तक अभी लता की पुकार न पहुँच पाई हो, पर इस अनन्त कहे

जाने वाले आकाश ने अवश्य उसके आँसुओं को देखा होगा, और देखा होगा इस पृथ्वी ने जो संसार में सबसे अधिक करुणाशील कही जाती है। फिर क्यों नहीं टूट पड़ा आकाश, और क्यों नहीं फट पड़ी पृथ्वी! लता के आँसू! उसके आँसुओं में अब तक ईश्वर की सारी अनन्तता को भी जल चाहिये था। आकुल न हो लता! आकाश मूक है, पृथ्वी वधिर है, और ईश्वर के तो अस्तित्व में ही सन्देह है! वे सबके सब तुम्हें भूल सकते हैं, पर तुम्हारा भाई रमेश, तुम्हें कदापि नहीं भूल सकता! जब तुमने सहायता के लिए अंचल पसारा है, तब वह अवश्य तुम्हारी सहायता करेगा!"

रमेश की आकृति पर गंभीरता लोट गई। वह मन ही मन कुछ सोचता रहा, फिर लता का पत्र पढ़ने लगा। वह कई बार लता के पत्र को पढ चुका था। उसने जबसे लता का पत्र पढ़ा है, उसका हृदय आकुलता का उष्ण समुद्र बन गया है। उसने जितनी बार लता का पत्र पढा, उसे लता अधिकाधिक करुणा की मूर्ति दिखाई पड़ी, और उसका हृदय उसकी पीड़ा से अधिकाधिक कराहता गया। पत्र यद्यपि बहुत छोटा सा था, पर उसकी पंक्तियाँ! ऐसा ज्ञात होता था, मानो किसी के हृदय की आह ही उसमें सुस्वरित हो रही है! लता का वह पत्र—

भैया रमेश!

कह नहीं सकती, कि तुम्हें आज यहाँ किसने भेजा है? क्या ईश्वर ने? नहीं नहीं, ईश्वर मेरे लिए संसार में नहीं है। मैंने कभी सुना था, द्रौपदी की पुकार सुनकर वह पैदल दौड़कर उसके पास पहुँचा था और मैंने यह भी सुना था, कि मीरा के हृदय की तड़प पर वह अपने मनोरम स्वर्ग को भी भूल गया था, पर भैया, मैं तो कब से पुकार रही हूँ इस कोठरीमें पड़ी-पड़ी उस ईश्वरको। हो सकता है मुझे उपेक्षिता समझकर स्वर्ग का वह विलासी भी मुझे भूल गया हो; पर मुझे विश्वास है भैया, तुम मुझे भल न सकोगे। मैं कैसे दिखाऊँ भैया, तुझे अपनी

इन आँखों को, जो हृदय के टुकड़े काट कर बहाते बहाते अब अधिक कंगाल बन गई हैं। उद्धार करो भैया, अपनी इस गरीबनी बहन का, उसे इस नरक की ज्वाला से निकालो। देखो तुम भी भूल मत जाना। मैं तुम्हारी राह देखूँगी।

तुम्हारी बहन
लता!

रमेशने पहली बार जब पत्र पढ़ा, तब वह पहले कुछ क्षणों के लिये किंकर्तव्य विमूढ़ सा हो गया, और उसकी समझ में ही यह बात न आई कि लता अपने घर की उपमा नरक की ज्वाला से क्यों दे रही है? पर जब उसकी आँखों के सामने प्रबोध चन्द्र के व्यवहारों और उनकी बातों का एक-एक चित्र बना, और उसने उस पर विचार किया तो अपने आप वास्तविकता उसकी आँखो के सामने नाच उठी, और जब वास्तविकता उसकी आँखों के सामने नाच उठी, तब प्रबोधचन्द्र पर उसका हृदय क्रुद्ध हो उठा; और साथ ही लता के प्रति करुणा भी उसके हृदय में उत्पन्न हो गई। वह लता की सहायता करने के लिये विकल हो उठा। उसे ऐसा लगा; मानो लता ने अपने पत्र की पंक्तियो मे अपना हृदय ही लिपेट कर रख दिया हो। रमेश का हृदय बार बार उन पक्तियो की ओर आकर्षित हो रहा था। रमेश एक बार पुनः पत्र पढ कर सोचने लगा। उसकी सारी चेतनाशक्ति इस बातको खोजने में लगी हुई थी, कि किस प्रकार लता से मिल कर उसके मन का हाल पूछा जाय, और किस प्रकार उसे उस स्थान से जिसे वह नरक की ज्वाला कहती है, बाहर निकाला जाय! रमेश बड़ी देर तक अपने कमरे में कुर्सी पर बैठा बैठा सोचता रहा। सहसा रमेश की दृष्टि घड़ी पर पड़ी। उसने देखा घड़ीकी छोटी सुई ग्यारहको पार कर रही है। रमेश कुर्सीसे उठा, और कमरा बन्द करके बाहर निकल गया।

× × ×

रात्रि के बारह बज रहे थे, चारों ओर स्तब्धता का राज्य सा छाया हुआ था। ऐसा ज्ञात होता था, मानो स्तब्धता का शान्त समुद्र बहा जा रहा हो। कभी-कभी बीच में श्वान चीत्कार कर उठते थे और वृक्षों के पक्षी भी चहचहा उठते थे। उस अंधकार में श्वानों का चीत्कार करना और पक्षियों का चहचहाना ऐसा लगता था, मानों वे प्रसुप्त मनुष्यों को सचेत कर रहे हों।

प्रबोधचन्द्र के बँगले में भी सहसा श्वान गरज उठा, और फिर वही स्तब्धता। ऐसा लगता, मानो वह रात्रि की घोर स्तब्धताको भंग करनेमें असफल होने के कारण हारकर बैठ गया हो, पर उसकी उस चीत्कार से कमरे में चिन्ता की तरंगों के साथ खेलते हुए प्रबोधचन्द्र, जिनकी आँखे कुछ झपक-सी रही थीं, पलंग पर उठ कर बैठ गये, और जब वे उठ कर बैठ गये, तब उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ मानो कोई सतर्कता से पैर रखता हुआ, बँगले के पीछे के भाग की ओर जा रहा है। प्रबोधचन्द्र सतर्क होकर कुछ सुनने का प्रयत्न करने लगे। बाहर पत्तों की कुछ खड़खड़ाहट सी हुई और उन्हें ऐसा लगा, मानो जो व्यक्ति सावधानी से आगे बढ़ रहा है, अंधकार के कारण उसका पैर सूखे पत्तों पर पड़ गया हो। प्रबोध चन्द्र उठकर खड़े हो गये। उन्होंने एक हाथ में आलमारी से पिस्तौल निकाल कर लिया, और दूसरे हाथ मे टार्च। वे धीरेसे कमरेका दरवाजा खोलकर बँगलेके पीछेकी ओर चले।

बंगले के पीछे दीवाल से लगा हुआ एक वृक्ष था, जिसके द्वारा कोई भी व्यक्ति बड़ी सरलता से बँगले के भीतर उतर सकता था। प्रबोध-चन्द्र ने कई बार उस वृक्ष को कटा देने की बात सोची, पर वे केवल सोचकर ही रह गये और कटा न सके। प्रबोधचन्द्र मन्द-मन्द गति से चलकर जब बँगलेके पीछे पहुँचे, तब उन्हें दीवाल पर किसी की छाया सी दृष्टिगोचर हुई। प्रबोधचन्द्र ने शीघ्र टार्च की रोशनी ऊपर फेंक दी। उन्होंने टार्च के प्रकाश में स्पष्टतः देखा 'एक व्यक्ति!'

प्रबोधचन्द्र चीत्कार कर उठे—खबरदार! यदि भागने की चेष्टा करोगे तो गोली मार दूँगा।

प्रबोधचन्द्र का कर्कश स्वर रात्रि की स्तब्धता में गूँज कर डूब गया। प्रबोधचन्द्र को यह देख कर अधिक विस्मय हुआ, कि उनकी बात समाप्त होने के पूर्व ही व्यक्ति भीतर बँगले में कूद पड़ा। प्रबोधचन्द्र हाथ में पिस्तौल लिये हुये दरवाजे की ओर झपटे; और जब वे अपने कमरे से होकर बँगले के भीतर प्रवेश कर रहे थे; तब सहसा उस व्यक्ति से उनकी मुठभेड हो गई। प्रबोधचन्द्र गरज उठे—खबरदार, यदि आगे कदम बढाया, तो ढेर कर दूँगा।

प्रबोधचन्द्र ने झपट कर बिजली बत्ती की सुइच दबा दी। कमरा प्रकाश से जगमगा उठा। उन्होंने उस प्रकाश में जब उस व्यक्ति को देखा, तब विस्मयपूर्वक उनके मुख से निकल पड़ा, 'रमेश! तुम!'

पाठक वह रमेश ही था, जिसे आप अभी कमरे से बाहर निकलते हुये छोड आये थे। रमेश स्थिर भाव से दरवाजे की ड्योढी पर खड़ा था। प्रबोधचन्द्र ने जब सुइच दबाई, और कमरा प्रकाश से जगमगा उठा, तब उसने भी प्रबोधचन्द्र की उस आकृति को देखा, जिस पर विस्मय, आकुलता, और दानवता एक ही साथ बरस रही थी। रमेश का ध्यान प्रबोधचन्द्र की उस पिस्तौल की ओर भी गया; जो अपने गर्भ में गोली छिपाये हुये भयानक दृष्टि से उसी की ओर देख रही थी। रमेश कुछ कहने ही जा रहा था, कि प्रबोधचन्द्र पुनः बोल उठे—तुम कदाचित् लता से मिलने के लिये आये थे! क्यों?

आपने ठीक ही समझा है!—रमेश ने उत्तर दिया।

प्रबोधचन्द्र के भीतर की आग भड़क उठी। जैसे रमेश की इस बात ने उसमें आहुति-सी डाल दी हो। प्रबोधचन्द्र चिल्ला उठे—बदमाश कहीं का! लज्जा नहीं लगती, मुँह से निकालते हुये यह बात!

कह रहा था, लता मेरे गाँव की वहन है; और जब रात्रि हुई तो चोरों की तरह छिप कर उसी बहन के साथ.... . . !

प्रबोधचन्द्र की बात समाप्त भी न हो पाई थी, कि रमेश क्रोध से गरज उठा—चुप रहिये वैरिस्टर साहब !

रमेश की बात समाप्त होने के साथ ही प्रबोधचन्द ने अपनी पिस्तौल आगे बढ़ा दी। उनकी उँगुलियों से पिस्तौल में जब खटक हुई, तब विस्मय से उन्होंने देखा, कि बीच में लता खड़ी थी, पर अब . . ... ।

गोली लता की छाती में भीतर घुस कर रह गई; और वह पृथ्वी पर गिर पड़ी। उसने कराहते हुए प्रबोधचन्द्र से कलम और कागज माँगा। उसने कागज के दो टुकड़ों पर कुछ लिख कर प्रबोधचन्द्र को दिया। प्रबोधचन्द्र ने देखा, एक में लिखा था, रमेश मेरा भाई है, और मैंने ही उसे अपनी सहायता के लिये बुलाया था। दूसरा पत्र मजिस्ट्रेट के नाम था, जिसमें लिखा था, मेरी मृत्यु का संबंध किसी घटना से नहीं, वल्कि आकस्मिक है।" दोनों के नीचे लता के हस्ताक्षर थे।

प्रबोधचन्द कुछ देर तक उन दोनों पत्रों को ध्यान से पढते रहे। फिर जोर से चिल्ला उठे—'लता !'

पर लता अब कहाँ थी ?

बाँझ तो नहीं है। उसका वंश, उसके पितरों की अभिलाषा! एक ही पुत्र है, सारी आकांक्षा धूल में मिल जायगी। फिर, फिर....!

अनन्दी भीतर ही भीतर विकलता की हिमानी से सिहर-सी उठती, और मन ही मन उपाय पर उपाय सोचने लगती। अनन्दी ने कई ऐसी स्त्रियों को अपनी आँखों से देखा था, जिन्हें विवाह के पश्चात् दो-तीन वर्ष तक कोई सन्तान नहीं हुई थी, पर जब कोई युक्ति की गई, तब उन्हीं से उनके वर की आशा पूरी हुई, और अब वे कई-कई बच्चों की माँ बन गई हैं। यही एक ऐसी आशा थी, जो अंधकार से भरे हुए अनन्दी के हृदय में दीपक के क्षीण प्रकाश की भाँति जगमगा रही थी, और अनन्दी का मन उस विकलता में भी धैर्य के तार में बँधा हुआ था।

श्रद्धा को लेकर अनन्दी के मनमें तो ऐसा ज्वार उठ रहा था, पर जयन्त के मन में श्रद्धा के प्रेम को छोड़ कर कहीं कुछ था ही नहीं। उसका हृदय श्रद्धा के प्रेम और उसके सम्मान से ऐसा भरा हुआ था, कि दूसरी भावना या कामना के लिए उसमें स्थान ही नहीं था। उसके मन पर श्रद्धा के रूप और उसकी मृदुलता का जो उन्माद बरस रहा था, उससे जयन्त कभी यह सोच ही नहीं पाता था, कि पत्नी से उसे और कुछ चाहिए या नहीं? वह श्रद्धा से जो कुछ पा रहा था, उसकी दृष्टि में वह एक ऐसी संतृप्ति थी, कि उसमें विश्व की सारी कामना-प्रेरक विकलताएँ डूब-सी गई थीं, पर श्रद्धा के मनमें कभी कभी कामना की क्षीण लहर जाग उठती थी। भरा तो उसका भी हृदय-पयोधि था प्रेम की तरंगों से; पर फिर भी कभी-कभी उसके मन के भीतर से सन्तान की कामना की तरंग उठ कर सबके ऊपर आ ही जाया करती थी; और जब आ जाती थी; तब उसका भी मन, कुछ ही क्षण के लिये क्यों न हो, उद्विग्न अवश्य हो उठता था।

विकलता श्रद्धा और अनन्दी, दोनों ही के मन में थी; पर दोनों

तुम क्या देखोगे ?—अनन्दी बोल उठी—तुम्हारी आँखों में तो कुछ और ही बसा है! जरा मेरी आँखों से तो देखो! विवाह हुये, दो-ढाई साल हो गये। तुम्हारे साथ जिनका विवाह हुआ था; वे दो-तीन बच्चे के बाप हो गये, और तुम । मेरे भाग्य ही ऐसे हैं! सोचा था, जीवन की सारी अभिलाषाएँ पूरी हो जायँगी, पर जान पड़ता है ...।

अनन्दी का कंठ करुणा से विजड़ित सा हो उठा और उसकी आँखों की दोनों पाँखे गीली हो गईं। जयन्त ने अनन्दी की ओर देखा! अनन्दी की आकृति पर सचमुच जैसे दुःख की झड़ी-सी लग रही थी। जयन्त उसी की ओर देखता-देखता सहानुभूति के स्वर मे बोल उठा—पर इसके लिये चिन्ता करके क्या करोगी माँ! यह सब तो ईश्वर की इच्छा से होता है। ईश्वर जिसे जो कुछ देता है, उसे उसी पर संतोष करना चाहिये।

यह तो ठीक है बेटा!—अनन्दी ने सविषाद स्वर में उत्तर दिया—पर मनुष्य को कुछ प्रयत्न तो करना ही चाहिये; और ऐसी बात में तो अवश्य प्रयत्न करना चाहिये।

तत्पश्चात् अनन्दी ने ऐसी कई स्त्रियों के नाम गिना दिये, जिन्हे पहले सन्तान नही होती थी, किन्तु जब उनके घर वालों ने प्रयत्न किया, तो उनकी आशाये पूरी हो गईं। अनन्दीने इसके साथ ही साथ कई ऐसे वैद्यों और हकीमों का नाम बताया; जो इस संबंध में अधिक ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उसने कई ऐसे पंडितों, साधुओं और महात्माओं की भी चर्चा की, जिनका नाम स्त्रियों की समाज में इस संबंध में उनके ओठों पर रहता था। जयन्त ने अनन्दी की बातें बड़े ध्यान से सुनी। उसने यह भी देखा, कि उस बात के लिये अनन्दी के हृदय में कितनी विकलता है। जयन्त मन ही मन कुछ गंभीर सा हो उठा; फिर उसके मुख से निकल पड़ा, 'देखा जायगा।'

अनन्दी उस समय चुप रह गई; पर जब उसके भीतर का ज्वार

कि उसके जीवन-मार्ग में एक ऐसा रेगिस्तान बन कर तैयार हो रहा है; जो अधिक भयावह है; और जिसे उसको पार करना ही होगा! श्रद्धा मन ही मन तड़प उठती। वह एकान्त में आँसू भी बहाती। उसे ऐसा लगता, कि अब उसके जीवन की तरणी मँझधार में डूबना चाहती है, पर इस निराशा के महा समुद्र में भी श्रद्धा के पास एक बल था; और वह था, जयन्त का प्रेम। श्रद्धा इसी बल के सहारे तो आँसुओ की झड़ी में आगे बढ़ रही थी। काश, श्रद्धा का यह बल उसके हृदय में बना रहता!

[२]

मनुष्य का मन बड़ा स्वार्थी और लालची होता है। जब मनुष्य के स्वार्थ की पूर्ति किसी से नहीं होती तो चाहे वह उसका सबसे अधिक प्रिय ही क्यों न हो, वह उसे अपने जीवन-पथ से विलग कर देने का प्रयत्न करता है, और चाहे उसकी हानि ही अधिक क्यों न हो, उसकी आँखे किसी दूसरे की ओर लग जाती है। अनन्दी के मन मे भी ऐसी ही बात उठी। अनन्दी जब प्रत्येक प्रकार का प्रयत्न करके थक गई, तब उसका मन श्रद्धा से जलने तो लगा ही, साथ ही उसके मन में यह विचार भी उत्पन्न हो उठा, कि वह क्यों न जयन्त का दूसरा विवाह कर दे? इस विचार के मन में आने के साथ ही अनन्दी अपनी बिरादरी की कई लड़कियाँ मन ही मन सोच भी गई, पर जयन्त की ओर जब उसका ध्यान जाता तो उसका मन काँप उठता। जाने जयन्त स्वीकार करे, या न करे; पर अनन्दी तो प्रयत्न करेगी ही! चाहे जैसे होगा; वह जयन्त को विवश करेगी, और फिर इसमें हानि ही क्या है? श्रद्धा को कुछ घर से निकाला तो जा नही रहा है! श्रद्धा भी रहेगी; और वह भी रहेगी, जिसका अब जयन्त के साथ विवाह होगा! संसार मे बहुत से लोग ऐसे होते है, जो दो-दो, क्या चार-चार विवाह करते है।

अनन्दी मन ही मन विचारों की लहरों पर दौड़ रही थी। जब उसने देखा, कि जयन्त पुस्तक टेबुल पर रख कर उसी की ओर देख रहा है, तब अनन्दी एक दीर्घ निश्वास लेकर बोल उठी—वेटा जयन्त, क्या तुम्हारे पश्चात् वंश का दीपक बुझ ही जायगा ?

जयन्त के हृदय पर जैसे एक स्तब्धता-सी डोल गई। जयन्त को पहले यह आशा न थी, कि अनन्दी आज इस विषय पर फिर उससे बातचीत करेगी। पर जब अनन्दी ने बड़े ही करुणात्मक ढंग से यह बात कही; तब जयन्त का हृदय जैसे स्तब्ध-सा हो उठा। जयन्त कुछ देर तक चुप रहा; फिर कह उठा–यदि ईश्वर की यही इच्छा होगी तो फिर उसमें किसी का वश क्या ?

जयन्त का ध्यान पहले सन्तान की ओर बिलकुल नहीं था। पर अनन्दी की उद्विग्नता ने अब उसके हृदय में भी कामना की लहरें उत्पन्न कर दी थीं; और आज तो जब अनन्दी ने वंश के दीपक की बुझ जाने की बात कही तो उत्तर देने के साथ ही साथ जयन्त के हृदय पर भी एक विषाद लोट गया, और वह भी एक दीर्घ निश्वास लेकर गंभीर बन गया।

अनन्दी ने जयन्त को ओर देखा! स्पष्टतः जयन्त की आकृति पर चिन्ता जनित गंभीरता खेल रही थी। अनन्दी जयन्त की ओर देखती हुई बोल उठी—ईश्वर क्या करे वेटा, जब बहू की कोख ही सदोष है, तो कोई क्या कर सकता है ?

जयन्त ने विस्मित दृष्टि से अनन्दी की ओर देखा! अनन्दी अपने चित्र को जयन्त के हृदय पर उतार देने के लिये दृढ़-सी थी। जयन्त ने उस दृढ़ता का अर्थ समझा, या नहीं, पर वह बोल उठा—पर तुमने तो कहा था, कि प्रयत्न से सब कुछ हो सकता है ; फिर क्या प्रयत्न से यह दोष नहीं मिटाया जा सकता !

नहीं वेटा !—अनन्दी बोल उठी—यह दोष ऐसा दोष है, जिसे

अनन्दी मन ही मन विचारों की लहरों पर दौड़ रही थी। जब उसने देखा, कि जयन्त पुस्तक टेबुल पर रख कर उसी की ओर देख रहा है, तब अनन्दी एक दीर्घ निश्वास लेकर बोल उठी—बेटा जयन्त, क्या तुम्हारे पश्चात् वंश का दीपक बुझ ही जायगा ?

जयन्त के हृदय पर जैसे एक स्तब्धता-सी डोल गई। जयन्त को पहले यह आशा न थी, कि अनन्दी आज इस विषय पर फिर उससे बातचीत करेगी। पर जब अनन्दी ने बड़े ही करुणात्मक ढंग से यह बात कही, तब जयन्त का हृदय जैसे स्तब्ध-सा हो उठा। जयन्त कुछ देर तक चुप रहा; फिर कह उठा–यदि ईश्वर की यही इच्छा होगी तो फिर उसमें किसी का वश क्या ?

जयन्त का ध्यान पहले सन्तान की ओर बिलकुल नहीं था। पर अनन्दी की उद्विग्नता ने अब उसके हृदय में भी कामना की लहरें उत्पन्न कर दी थीं; और आज तो जब अनन्दी ने वंश के दीपक की बुझ जाने की बात कही तो उत्तर देने के साथ ही साथ जयन्त के हृदय पर भी एक विषाद लोट गया, और वह भी एक दीर्घ निश्वास लेकर गंभीर बन गया।

अनन्दी ने जयन्त को ओर देखा। स्पष्टतः जयन्त की आकृति पर चिन्ता जनित गंभीरता खेल रही थी। अनन्दी जयन्त की ओर देखती हुई बोल उठी—ईश्वर क्या करे बेटा, जब बहू की कोख ही सदोष है, तो कोई क्या कर सकता है ?

जयन्त ने विस्मित दृष्टि से अनन्दी की ओर देखा! अनन्दी अपने चित्र को जयन्त के हृदय पर उतार देने के लिये दृढ-सी थी। जयन्त ने उस दृढ़ता का अर्थ समझा, या नहीं, पर वह बोल उठा—पर तुमने तो कहा था, कि प्रयत्न से सब कुछ हो सकता है ; फिर क्या प्रयत्न से यह दोष नहीं मिटाया जा सकता !

नहीं बेटा !—अनन्दी बोल उठी—यह दोष ऐसा दोष है, जिसे

मनुष्य नही मिटा सकता। जब कुक्षि में प्रजनन की शक्ति ही नहीं तो संतान कैसे उत्पन्न हो सकती है? मै तुमसे कैसे कहूँ जयन्त, श्रद्धा है।

तो फिर क्या हो सकता है माँ!—जयन्त ने कुछ अधिक दुख तथा तन्मयता के स्वर में कहा—अपने मस्तक पर हाथ रक्खो, और भगवान पर भरोसा करो।

भगवान का भरोसा अब तो है ही बेटा!—अनन्दी बोल उठी—पर भगवान भी तो सहायता उसी की करते है, जो अपने उद्देश्य की पूर्ति में प्रयत्नशील होता है।

इस दृष्टि से तो भगवान को तुम्हारी सहायता करनी चाहिये माँ!—जयन्त बोल उठा—क्योंकि इस दिशा मे तुम सबसे अधिक प्रयत्न शील रही हो!

जयन्त ने अपनी बात समाप्त करके अनन्दी की ओर देखा। अनन्दी विचारों की तरंगो पर उड़ी जा रही थी। जयन्त की बात को सुनकर वह कुछ देर तक मन ही मन सोचती रही, फिर गंभीरता पूर्वक बोल उठी—जयन्त!

अनन्दी का स्वर बहुत ही गम्भीर और रहस्य पूर्ण था। जयन्त विस्मित होकर अनन्दी की ओर निहार उठा। अनन्दी जैसे मन ही मन कुछ सोच रही हो। जयन्त अनन्दी की ओर देखता हुआ बोल उठा—क्या है माँ!

बेटा जयन्त!—अनन्दी ने गंभीर मुद्रा से कहा—वंश का दीपक प्रज्वलित रखने के लिए तुम्हें दुसरा विवाह करना होगा।

'दूसरा विवाह!' जयन्त के मुख से सहसा निकल पड़ा और फिर वह चुप हो गया।

अनन्दी ने जयन्त की ओर देखा। अनन्दी को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों उसकी बात से जयन्त के हृदय का तार-तार झनझना उठा हो, और उत्पन्न हो उठी हों, उसके हृदय-पयोधि मे विस्मय की तरंगें।

सचमुच जयन्त ने जब दूसरे विवाह की बात अनन्दी के मुख से सुनी, तो जैसे उसके हृदय-विपंची में झनझनाहट-सी उत्पन्न हो उठी। जयन्त मन ही मन सोचने लगा, 'दूसरा विवाह!' दूसरा विवाह कैसे हो सकता है ? विवाह ऐसी वस्तु तो नहीं, जो समाजिक प्रथाओं की तरह केवल पूर्ण करने के लिये किया जाय। विवाहमें तो आत्मा का आदान-प्रतिदान होता है। जब एक बार आत्मा श्रद्धा को दे चुका हूँ; तब इस दूसरे विवाह के लिये दूसरी आत्मा कहाँ से लाऊँगा। न, मै दूसरा विवाह न करूँगा।

जयन्त अभी सोच ही रहा था, कि अनन्दी पुनः बोल उठी— दूसरा विवाह कर लेने में कोई हर्ज नही है बेटा! बहुत से लोग ऐसे है, जो दो-दो विवाह किये हुये है। आखिर वंश में दीपक जलाने वाला तो कोई होना ही चाहिये।

अनन्दी की इस अन्तिम बात से जयन्त का दृढ़ मन हिल उठा, और उसके भीतर विवाह न करने की जो धारणा उत्पन्न हो उठी थी, वह भीतर ही भीतर कुछ दब-सी गई। जयन्त के मन में रह-रह कर अनन्दी की यह बात उठने लगी, कि क्या उसके पश्चात् उसके वंश का दीपक बुझ जायगा। किन्तु जब श्रद्धा का ध्यान आता, तब फिर जयन्त का हृदय सिहर उठता था, और अनन्दी की बात से उसका हृदय जो कुछ विवाह की ओर आकर्षित होता; वह श्रद्धा की इस स्मृति से पुनः उसकी ओर से खिच आता था। जयन्त का मन दो विपरीत भावों का एक उद्गम-स्थल सा बना हुआ था। अनन्दी ने जयन्त की ओर देखा और उसकी मौनिमा से उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों जयन्त के हृदय पर उसकी बात का इप्सित प्रभाव पड़ रहा है। अनन्दी प्रोत्साहित होकर बोल उठी—जब वंश का दीपक बुझ रहा हो, तब दूसरा विवाह कर लेने में कोई हर्ज नहीं है बेटा! आखिर वंश में पितरों को पिण्डदान करने वाला कोई चाहिये!

जयन्त ने अनन्दी की ओर देखा। अनन्दी को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों जयन्त कुछ विचित्र उलझन में फँस गया है। अनन्दी पुनः बोल उठी–कदाचित् तुम यह सोच रहे हो, कि जब तुम दूसरा विवाह कर लोगे, तो श्रद्धा का क्या होगा ? पर श्रद्धा को कोई घर से निकाले तो दे नहीं रहा है। श्रद्धा भी रहेगी; और वह भी रहेगी।

अनन्दी अपनी बात समाप्त करके जयन्त की ओर देखने लगी। जयन्त एक दीर्घ निश्वास लेकर कुर्सी से उठ कर खड़ा हो गया; और यह कह कर 'अच्छा देखा जायगा माँ!" उस द्वार की ओर बढ़ा, जो उस कमरे और घर के मध्य में था। ड्योढ़ी पर पहुँच कर जयन्त ने देखा श्रद्धा द्रुतगति से घर के भीतर की ओर बढी जा रही थी।

जयन्त का हृदय एक साथ ही झनझना उठा और वह खड़ा खड़ा देर तक सोचता रहा, 'कहीं श्रद्धा उसकी और उसकी माँ की बात-चीत सुन तो नही रही थी!'

[३]

दूसरा विवाह! श्रद्धा के मन मे रह-रह कर एक आँधी—सी डोल पड़ती थी। जब से उसके कानों मे यह समाचार पड़ा है; उसका हृदय दिन-रात आन्दोलित-सा रहा करता था। उसके अधरो की हँसी और आँखों का उन्माद अदृश्य—सा हो गया था। दिन-रात आकृति पर एक विषाद और चिन्ता की भावना! जयन्त श्रद्धा की इस उन्मन आकृति को देखता; पर उससे कुछ पूछने का उसका साहस न होता! जयन्त श्रद्धा से इस संबंधमे कुछ पूछ तो नसकता, पर श्रद्धा को लेकर उसका हृदय सदैव चिन्तित—सा रहा करता था। वह प्रायः यह सोचा करता था, कि यदि उसने दूसरा विवाह कर लिया, तो फिर श्रद्धा का क्या होगा? भले ही श्रद्धा कुछ न कहे, पर उसके हृदय को कठिन आघात तो लगेगा ही! फिर-फिर.... ? जयन्त जब

श्रद्धा की बात सोचता, या जब उसकी विषाद-पूर्ण आकृति को देखता; तब उसका मन विचलित हो उठता, और वह यह भी सोच जाता, कि नही, वंश का दीपक बुझ रहा है, बुझ जाय, वह दूसरा विवाह न करेगा; पर अनन्दी की आँखों के आँसू, उसकी सकरुण प्रार्थना, और उसका आग्रह ! जयन्त एक विचित्र उलझन में आग्रस्त हो गया था। इधर श्रद्धा थी; और उधर अनन्दी ! जयन्त मन ही मन आकुलता के साथ खेल किया करता था।

जाड़े के दिन थे। रात्रि के दस बज रहे थे। जयन्त सिनेमा देखने चला गया था और श्रद्धा ! श्रद्धा अपने कमरे में पलँग पर पड़ी-पड़ी सोच रही थी—'दूसरा विवाह ! तो क्या अब मेरा वह सहारा भी टूट जायगा, जिसके बल पर मैं जीवित हूँ ! पर मैं अपने इस स्वार्थ के लिये उनके घर के दीपक के बुझने का कारण क्यों बनू ? फिर क्या, उनका घर, मेरा घर नही, उनका वंश, मेरा वंश नही ! माना, कि किसी दूसरी की कुक्षि से उनके दूसरी सन्तान उत्पन्न होगी; पर जब मै उनकी हो चुकी हूँ, तो क्या उस सन्तान पर मेरा अधिकार न होगा ! अवश्य, मै आज ही उनसे कह दूँगी, कि वे अपना दूसरा विवाह हँसी-खुशी कर लें, पर दूसरा विवाह हो जाने पर क्या मैं उनके हृदय-आसन पर स्थित रह सकूँगी ? उस समय भी क्या वे इसी प्रकार मुझसे बातचीत करेंगे, ? मेरे दुखों को देख कर तड़पेंगे और आँसुओं को अपने रूमाल में मोती की तरह लेंगे ! जाने वह कैसी होगी, जिसके साथ विवाह होगा ? यह तो उसकी इच्छा पर होगा, कि वे मेरे साथ बात करे ? नहीं, मै अपना अधिकार न छोड़ूँगी। स्त्री के जीवन में उसका पति ही तो सर्वस्व होता है ! पति ही उसकी शक्ति है, उसका बल है, उसका साहस है; और है उसके जीवन का अमूल्य धन ! पर क्या स्त्री के लिये यह उचित है, कि वह अपने शारीरिक सुखों के लिये अपने पति का वंश मिट जाने दे ?

कितनी व्यथा होती होगी उनके मन मे ! वे भले ही अपनी इस व्यथा को प्रगट न होने दे, पर यह निश्चय है, कि इसकी आग से उनके अन्तर का कोना-कोना दग्ध होता होगा ! नहीं, मै यह कलंक अपने मस्तक पर न लगने दूँगी, कि मै ही उनके वंश के मिट जाने का कारण बनी। आज ही, आज ही, मै उनसे कहूँगी, कि वे अपना दूसरा विवाह कर ले।"

श्रद्धा का हृदय आनन्द से भर गया, और उसकी मुखाकृति खिल उठी। अब तक जो चिन्ता-भावना उसकी आकृति पर नृत्य कर रही थी, वह एक ही पल मे अदृश्य हो गई और अब तक जिस कसक से उसके कलेजे में दिन रात कसक उठा करती थी, वह विचार के इस एक ही झोंके मे उड़ गई, और ऐसा ज्ञात हुआ मानों उसके हृदय-प्रान्त मे आनन्द का सावन बरस रहा है। श्रद्धा आनन्द से उन्मत्त होकर दर्पण के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई। उसने कई महीनो के पश्चात् आज अपना मुखड़ा दर्पण मे देखा था। श्रद्धा को आज उसका मुख अपूर्व मुख ज्ञात हुआ। उसे ऐसा लगा, मानों उसके मुख पर संसार का सबसे अनुपम सौन्दर्य बरस रहा है। श्रद्धा स्वय अपने ऊपर विमुग्ध हो उठी, और दर्पण के सामने खड़ी-खड़ी अपनी खुली हुई वेणी में कंघा करने लगी।

श्रद्धा इस प्रकार आनन्द में विभोर हो उठी थी, कि उसे पता भी न चला, कि कब जयन्त उसके कमरे में आया और आकर पलँग पर लेट गया। जयन्त ने भी श्रद्धा की उस अनुपम छवि को देखा। आह्लाद का जो उन्माद श्रद्धा की मुखाकृति पर वरस रहा था, उससे श्रद्धा स्वर्ग की एक देवी सी ज्ञात हो रही थी। जयन्त उसे देख कर मन ही मन सोच रहा था; "न, ऐसी अनुपम श्रद्धा के साथ वह विश्वासघात न करेगा ! वंश का दीपक बुझ रहा है, बुझ जाने दो; पर उससे यह न देखा जायगा, कि श्रद्धा की बड़ी बड़ी ऑखो से

आँसू गिर रहे हैं। न, वह अब कभी विवाह की बात भी न सोचेगा, और अनन्दी से साफ-साफ कह देगा, कि यदि वह अब उससे दूसरा विवाह करने की बात कहेगी, तो वह घर छोड़ कर कहीं चला जायगा।" पर साथ ही जयन्त के मन में आश्चर्य भी हो रहा था, कि यह श्रद्धा, आज रात्रि में आनन्द से उमड़ी क्यों पड़ रही है ? वह चिन्ता, वह विषाद, कहाँ उड़ कर चला गया; जो प्रति दिन इसकी आँखों में झलका पड़ता था ? दर्पण के सम्मुख खड़ी होकर इसका यह वेणी बंधन; और प्रसाधन !

जयन्त बोल उठा—यह सब आज किसके लिये हो रहा है श्रद्धा रानी !

श्रद्धा ने विद्युत के जगमगाते हुये प्रकाश में जयन्त की ओर देखा! जयन्त ने स्पष्टतः देखा, कि श्रद्धा के अधरों से मुसुकुराहट फूट रही थी। श्रद्धा जयन्त की ओर देखती ही देखती कह पड़ी, किसी के लिये। आप से मतलब !

और श्रद्धा फिर अपनी वेणी बाँधने लगी। जयन्त पुनः बोल उठा—मैं भी तो सुनूँ उस महा भाग का नाम !

श्रद्धा ने पुनः जयन्त की ओर देखा। जयन्त को ज्ञात हुआ, मानों उसकी आँखों में प्रसन्नता की झड़ी लग रही हो। श्रद्धा ने वेणी गूँथ कर भाल में टीका लगाया; और जयन्त की ओर देख कर वह पुनः बोल उठी—सुनियेगा उस महा भाग का नाम; पर नहीं नाम सुन कर क्या कीजियेगा ? उसे अब साक्षात् अपनी आँखों से देख लीजिये न !

जयन्त को श्रद्धा की इस बात पर अधिक विस्मय-सा हुआ। और उसे ऐसा लगा, मानों उसके हृदय पर तुहिन की बूँदें गिर रही हों ! जयन्त आँखों में विस्मय भर कर श्रद्धा की ओर देखने लगा। श्रद्धा जयन्त की ओर देखती हुई मुसुकुरा उठी। और जयन्त के पास जा कर उसकी बगल में बैठ गई। फिर कह उठी—आपको ईर्षा तो होगी

उस महा भाग को देख कर; पर फिर भी आप देखे! देखे तो आप, हमारे मस्तक के टीके में आपको कोई दिखाई पड़ रहा है!

जयन्त श्रद्धा की ओर देख कर हँस उठा, और उसने घूम कर चाहा, कि वह श्रद्धा को अपनी दोनों भुजाओ में सिमेट ले; पर श्रद्धा खिसक कर कुछ दूर हट गई, और साथ ही बोल उठी—अभी नही, मेरी एक बात मान लीजिये, तब!

जयन्त ने श्रद्धा की ओर देखा। उसे ऐसा लगा, मानों श्रद्धा के अधरों पर कोई रहस्य खेल रहा हो। जयन्त चकित होकर उस रहस्य को देखने लगा, और साथ ही कह उठा—वह कौन सी बात है श्रद्धा, कहो न!

पहले मानने का वचन दीजिये—श्रद्धा आँखों में उन्माद भर कर बोल उठी।

श्रद्धा, क्या तुझे मुझ पर विश्वास नहीं—जयन्त ने श्रद्धा की ओर देखते हुये कहा–यह आज वचन देने और लेने की बात कैसी। कहो, जो कुछ कहना हो, कहो! मै उसे अवश्य मानूँगा!

श्रद्धा कुछ देर तक चुप रही। उसके अधरो पर जो हास्य था, वह धूमिल पड़ गया, और आकृति पर जैसे गम्भीरता-सी नाच उठी। वह कुछ क्षण तक अपने आप ही मे डूबी रही। फिर जयन्त की ओर देखकर मन्द स्वर में बोल उठी—आप अपना दूसरा विवाह कर लें।

मै अपना दूसरा विवाह कर लूँ!—जयन्त के मुख से सहसा निकल पड़ा, और फिर वह विस्मित होकर श्रद्धा के मुख की ओर देखने लगा।

हाँ, आप अपना दूसरा विवाह कर ले!—श्रद्धा बोल उठी—यदि आप मुझसे प्रेम करते हों, तो आप अपना दूसरा विवाह कर ले।

नहीं श्रद्धा—जयन्त बोल उठा–यह मुझसे न हो सकेगा!

परआप मुझे वचन दे चुके है! श्रद्धा कह उठी।

मै वचन-भंगका अभिशाप अपने सर पर ले लूँगा श्रद्धा !--जयन्त ने कहा, पर मै दूसरा विवाह...।

नही, आपको दूसरा विवाह करना ही होगा !–श्रद्धा बोल उठी--क्या आप यह चाहते है, कि आप के वंश के मिट जाने का कलंक मेरे मस्तक पर लगे ? क्या आप यह चाहते है, कि लोग मुझे इस बात के लिए कोसे, कि मैने अपने स्वार्थ और सुखों के लिये आपको दूसरा विवाह नही करने दिया ? क्या आप यह चाहते है कि मुझे पृथ्वी पर लांछन तो मिले ही, स्वर्ग और पाताल में भी अभिशाप की ज्वालाओं में जलना पड़े ? आपको दूसरा विवाह करना ही होगा, और करना ही होगा! यदि आप दूसरा विवाह न करेंगे तो मै घर छोड़ दूँगी, और..!

श्रद्धा की बात समाप्त भी न हो पाई थी, कि जयन्त गंभीर स्वर से बोल उठा–श्रद्धा !

हाँ मै सच कह रही हूँ !--श्रद्धा पुनः बोल उठी--बोलिये, आप दूसरा विवाह करंगे या नही ?

जयन्त श्रद्धा की ओर देख कर मौन हो गया। श्रद्धा ने प्रसन्नता से ललक कर अपनी दोनों भुजाये दाम-सी जयन्त के गले मे डाल दी, पर जयन्त के अधरों से हँसी न फूटी ! श्रद्धाने उसे उँगुली से गुदगुदा दिया। इस पर जयन्त के अधरों पर हास्य की जो रेखा खिची, वह ऐसी ज्ञात हुई, मानों सिसकते हुये बिषाद ने बहुत ही विवश होकर उसे खीचा हो !

[४]

मनुष्य क्या जानता है, कि आगे क्या होगा ? मनुष्य सोचता कुछ और है, करना वह कुछ और चाहता है, पर परिस्थितियाँ उसे कुछ और ही करने के लिये विवश कर देती है। कभी-कभी ऐसा भी

होता है, कि परिस्थितियो के पाट में मनुष्य के हृदय का सारा सत्य, सारा विश्वास और उसका सारा कर्त्तव्य दबकर कराह उठता है। कभी-कभी परिस्थितियों के वशीभूत होकर मनुष्य ऐसे काम कर डालता है, कि जिसकी उसे कभी संभावना भी नही रहती और जिसके संबंध मे वह कभी विचार तक भी नही किये होता। जयन्त ने भी कभी यह न सोचा था, कि दूसरा विवाह करने पर उसका मन श्रद्धा की ओर से विरक्त हो जायगा, और श्रद्धा उसके हृदय-सिंहासन से खिसककर नीचे गिर पड़ेगी।

जयन्त का जब दूसरा विवाह हुआ और उसने अपनी दूसरी स्त्री, प्रमीला को देखा, तब यद्यपि प्रमीला श्रद्धा से अधिक सुन्दर न थी, फिर भी नवीना होने के कारण वह श्रद्धा से उसे कुछ-कुछ अच्छी ही जँची। प्रमीला श्रद्धा से अधिक सुन्दर तो न थी, पर जयन्त के मन को आकर्षित करने के लिये उसमें वाचालता अधिक थी। जयन्त को शीघ्र ही उसने अपने वशीभूत कर लिया। पहले कुछ दिनो तक तो प्रमीला को इसके लिये प्रयत्न करना पड़ा, पर जब प्रमीला गर्भ-वती हो गई और जयन्त अपने आप ही उसकी आकांक्षाओं का भक्त बन गया, तब प्रमीला निश्चिन्त सी हो गई। पर फिर भी वह श्रद्धा की ओर से सजग रहती थी। प्रमीला एक ऐसी स्त्री थी, जो अपने जीवन की बागडोर को किसी दूसरे के हाथों मे सौपना नही चाहती थी। उसे सदा श्रद्धा से डर लगा रहता था, कि कही वह जयन्त को प्राप्त करने की प्रतिद्वन्दिता मे उससे बाजी न मार ले जाय। यो जयन्त स्वयं श्रद्धा को भूलता जा रहा था, पर जब कभी वह श्रद्धा से दो-एक बार बात कर लेता, तो और प्रमीला उसे देख लेती तो उसका हृदय धड़क उठता था और वह किसी न किसी बहाने अपने मन का भाव जयन्त पर प्रगट कर देती थी।

यो तो प्रमीला ने पहुँचते ही जयन्त के हृदय पर अपना अधि-

कार स्थापित कर लिया, पर जब प्रमीला के गर्भ से पुत्र का जन्म हुआ, तब जयन्त की सारी आकांक्षायें अब प्रमीला और उसके पुत्र में ही रमने लगीं। जयन्त अब श्रद्धा को बिल्कुल भूल सा गया। श्रद्धा अब भी जयन्त के साथ ही, उसके घरमें रहती थी; पर उसी प्रकार, जिस प्रकार एक सेविका। जयन्त के मनमें अब श्रद्धा के लिये कोई स्थान न था। अनन्दी के मन से तो वह पहले ही उतर गई थी, अब जयन्त के हृदय-सिंहासन से भी वह नीचे खिसक पड़ी। अब जयन्त से उसका इतना ही संबंध रह गया, कि वह दिन भर घर का सारा काम-काज करती और दो रोटियाँ खाकर चुपचाप अपने कमरे में पड़ जाती।

पर फिर भी श्रद्धा का मन कभी परिम्लान न होता। प्रमीला के आने के पूर्व उसने अपने जीवन का जो मार्ग निर्दिष्ट कर लिया था, उसपर वह बड़ी प्रसन्नता से चली जा रही थी। जयन्त उससे न बोलता, न बोलता, पर जयन्त की वह जो सेवा कर लेती थी, केवल उतने से ही उसका मन संतुष्ट हो जाता था। जयन्त उससे दूर रहता था, पर जो वह जयन्त को प्रति दिन देख लिया करती थी, केवल उतने से ही वह अपने स्त्री-जीवन को धन्य समझती थी, पर प्रमीला को कदाचित् यह भी स्वीकार न था, कि श्रद्धा जयन्त को प्रति दिन आँख भर देख लिया करे!

प्रमीला मन ही मन श्रद्धा से जला करती थी। वह श्रद्धा से केवल इतना ही चाहती थी, कि वह घर का काम-काज कर दिया करे, और बस! पर इतने से भी तो श्रद्धा और जयन्त का संपर्क कभी न कभी हो ही जाता था और जब हो जाता था, तब प्रमीला का हृदय आशंका से धड़क उठता था। पुत्रवती होने के कारण जब प्रमीला की स्थिति अधिक सुदृढ़ हो गई, तब प्रमीला के व्यवहारों में और भी अधिक परिवर्तन हो गया और उसके मनमें श्रद्धा के लिये कोई स्थान ही

न रह गया। वह कभी-कभी श्रद्धा को झिड़क भी दिया करती थी। यद्यपि श्रद्धा बोलती तो कुछ न, पर प्रमीला की झिड़की से उसका हृदय तिलमिला अवश्य उठता था और जब वह रात मे सोती, तो सबकी आँखों से, बचकर दो आँसू गिराकर अपने हृदय के भार को हल्का कर लिया करती थी।

प्रमीला का मन इस बात से भी सदा आशंकित रहता था, कि कही श्रद्धा की छाया उसके पुत्र पर न पड़ जाय। उसने कही यह सुन रक्खा था, कि बाँझ स्त्री की छाया, यदि छोटे बालक पर पड़ जाती है, तो उसका निश्चय असंगल होता है। प्रमीला के मनमे दिन-रात यह बात चक्कर काटती रहती थी और इसके कारण उसका हृदय धड़का करता था। प्रमीला स्पष्ट रूप से इस संबंध मे कहती तो कुछ न, किन्तु वह सजग अवश्य रहती थी। वह अपने पुत्र को इस प्रकार रखती थी, कि उसे श्रद्धा के अंक मे जाने का अवसर ही न देती थी। पर श्रद्धा का हृदय। वह उस बालक मे जयन्त की छवि देखती थी, और उसे अपनी गोद में लेने के लिये उसका मन तड़प उठता था। प्रमीला की सजगता और सतर्कता पर भी श्रद्धा कभी-कभी उसे अपनी गोद मे उठा ही लेती थी, और जब उठा लेती थी, तो प्रमीला के हृदय पर जैसे साँप-सा लोट जाता था।

जाड़े के दिन थे और दोपहर का समय। प्रमीला का पुत्र धूप मे चारपाई पर पैर उछाल रहा था। प्रमीला किसी काम से अपने कमरे मे चली गई थी। श्रद्धा अपनी कोठरी से निकली और उसने उसे अपनी गोद मे उठा लिया। प्रमीला ने कमरे से बाहर निकल कर देखा, श्रद्धा उसे प्यार से चूम रही है। प्रमीला को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों वह चुम्बन अमंगल बनकर उसके पुत्र के कपोलो पर अकित हो रहा है। प्रमीला ने झपट कर श्रद्धा से शिशु छीन लिया। श्रद्धा देखती ही रह गई, और प्रमीला उसपर अपना अचल डालकर चली

यह पहला अवसर है, जब श्रद्धा की आँखे दिन में सूर्य के चरणों के पास छोटी सी बदली की तरह बरस पड़ी। उसके हृदय में एक हूक उठी और उठकर सारे हृदय-प्रान्त में गूँज गई! वह अपनी कोठरी में भाग कर चली गई और खूब रोयी; खूब! काश, उसने समझा हो, कि अपनी आँखों के आँसुओं को गिरा कर आज ही उन्हें चुका देगी, पर उसकी आँखो के आँसू! क्या वे कभी चुक सकते हैं? उस अज्ञान को कदाचित् यह नही मालूम कि ऐसी स्त्रियों के आँसू हमारे समाज में तभी बन्द होते है, जब या तो स्वयं उनके जीवन-पतंगकी डोर कट जाती है, या वे अपनेआप ही काट कर फेक देती है।

श्रद्धा की आँखों के आँसू! अभी और गिरेंगे, अभी और! श्रद्धा, तुमने जब संसार को समझने मे भूल की, तब तुम्हें अपनी भूलका परिणाम तो भोगना ही पड़ेगा। प्रमीला जब अपने पुत्र को लेकर कमरे में गई, और उसे लेकर चारपाई पर लेट गई, तब कुछ समय के पश्चात् उसे यह देख कर अधिक आश्चर्य हुआ कि उसके पुत्र का शरीर धीरे धीरे गरम हो रहा है। प्रमीला का मन तड़प उठा, और वह मन ही मन आशंकाओं के दोल पर झूलने लगी। प्रमीला उस समय और भी अधिक आशंकित हो उठी, जब उसने देखा, कि कुछ देर के पश्चात् उसके पुत्र को ज्वर हो आया, और वह कराहने लगा। प्रमीला के मन में जो आशंका थी, वह ऊपर उठ आई और वह मन ही मन सोचने लगी, निश्चय, श्रद्धा की छाया उसके पुत्र पर पड गई है!

प्रमीला दौड़कर अनन्दी के पास जा पहुँची, और एक ही साँस में उससे कह गई। अभी अभी बच्चा बड़े मजे में खेल रहा था, पर बड़ी बहू ने उसे गोद में उठा कर चूम लिया और उनके चूमते ही उसे न जाने क्या हो गया?"

अनन्दी ने भी जाकर बच्चे को देखा। बच्चा ज्वर से कराह रहा

था। अनन्दी और प्रमीला, दोनों का ही मन तड़प उठा और दोनों ही के मन में श्रद्धा के प्रति एक गंभीर विरक्ति की भावना उत्पन्न हो उठी। पर प्रमीला और अनन्दी की उस विरक्ति-भावना में भी अधिक अन्तर था। अनन्दी मन ही मन सोच रही थी, कि यदि बच्चा अच्छा हो जाय, तो वह श्रद्धा से साफ साफ कह देगी कि वह अब बच्चे को अपनी गोद में न लिया करे, पर प्रमीला! प्रमीला तो अब श्रद्धा की छाया भी अपने बच्चे के ऊपर नहीं पड़ने देना चाहती थी।

× × × ×

रात्रि के ग्यारह बज रहे थे। जयन्त बच्चे की चारपाई पर बैठ कर उसके मुखकी ओर देख रहा था। बच्चे का ज्वर अब उतर गया था और वह अपनी स्वस्थता की नींद में सो रहा था। अनन्दी ने थोड़ी ही देर में अधिक दौड़-धूप कर ली थी। जितने झाड़-फूंक करने वालों को वह जानती थी, लगभग सब के पास गई, और बारी-बारी से सबको बुला लाई। कह नहीं सकते, बच्चे का ज्वर झाड़-फूँक से अच्छा हुआ या और किसी कारण वश, पर अनन्दी और प्रमीला ने तो इससे यही अर्थ निकाला, कि निश्चय श्रद्धा की ही परछाईं बच्चे पर पड गई थी, और जब झाड़-फूंक हुई तब वह दूर हुई।

प्रमीला दिन में अधिक चिन्तित थी। पर जब बच्चे की तबियत कुछ अच्छी हुई, और वह चारपाई पर पड़ी तो उसे नींद आ गई। पर जयन्त की आँखों मे अभी नींद का नाम तक न था। वह बच्चे के मुख की ओर देख रहा था, और मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दे रहा था, कि बच्चे को अधिक कष्ट नहीं झेलना पड़ा, और वह शीघ्र ही अच्छा हो गया। जयन्त श्रद्धा के ऊपर भी तर्क-वितर्क कर रहा था। क्योंकि जब जयन्त आफिस से लौट कर आया, तब प्रमीला ने उससे भी वही बात कही, जो उसने अनन्दी से कही थी। उस

समय तो जयन्त ने प्रमीला की इस बात पर ध्यान न दिया, किन्तु जब बच्चा कुछ स्वस्थ हो गया, और जयन्त को एकान्त उपलब्ध हुआ, तो प्रमीला की वह बात जयन्त के मन में चक्कर काटने लगी। श्रद्धा ! क्या उसकी परछाईं पड़ने से बच्चा बीमार हो गया ? नही, ऐसा नही हो सकता। संसार मे न जाने कितनी ऐसी स्त्रियाँ है, जिनके गर्भ से सन्तान नही उत्पन्न हुई, और जिनकी परछाई प्रति दिन ही न जाने कितने बच्चों पर पड़ा करती है ! तो क्या वे सबके सब बीमार हो जाते है। नही, यह झूठ है, प्रमीला के मन की केवल कायरता मात्र है। पर प्रमीला जो यह कहती है, कि झाड़-फूंक से अच्छा हुआ,.... ! अवश्य, कोई न कोई बात रही होगी पर श्रद्धा .।"

जयन्त का मन सहसा इस बात पर दृढ़ नही हो रहा था कि श्रद्धा की परछाईं पड़ जाने से बच्चा बीमार हो गया। वह इस बात को तो मान रहा था कि झाड़-फूंक से ही उसका बच्चा अच्छा हुआ, पर श्रद्धा के सम्बन्ध की बात उसके मनमें नही जम रही थी। पर इतना तो निश्चय ही था कि श्रद्धा के सम्बन्ध में सोचते हुये उसका मन काँप रहा था; और स्वयं उसके भी हृदय के एक कोने में कभी-कभी श्रद्धा के प्रति सन्देह और अविश्वास की भावना जाग उठती थी, पर जग कर शीघ्र ही प्रसुप्त भी हो जाती थी।

जयन्त मन ही मन तर्क-वितर्क कर ही रहा था, कि प्रमीला नीद में बड़बड़ा उठी, 'बचाओ, मेरे बच्चे को बचाओ' और वह शीघ्र ही उठ कर बैठ गई। उसने शीघ्र अपने बच्चे की छाती पर हाथ रक्खा। बच्चा आराम से सो रहा था, पर प्रमीला की छाती जैसे, भाथी हो रही थी।

जयन्त बोल उठा, क्या बात है प्रमीला ?

तुम सुन कर क्या करोगे ! प्रमीला आवेश में बोल उठी--तुम

इस घर में मेरी और मेरे बच्चे की जान ले लोगे ! पर मै अब एक भी न सुनूँगी ! मै सवेरा होते ही इस घर को छोड़ दूँगी। अपने बच्चे को लेकर कही और चली जाऊँगी।

आखिर हुआ क्या ?—जयन्त बोल उठा—मै भी तो कुछ सुनूँ !

हुआ क्या ?-प्रमीला ने कहा, और उसका कंठ आर्द्र हो उठा ! जैसे कोई वेदना गल कर उसके कंठ की राह से बाहर निकल रही हो।

प्रमीला कुछ देर तक मौन रही, फिर आर्द्र कंठ से बोल उठी—मै सच कहती हूँ, इस घर को छोड़ दो, नही तो पीछे पछताओगे। मैने बड़ा बुरा स्वप्न देखा है। अब भी मेरे रोंये खड़े है, और देखो, छाती जैसे भाथी बन गई है।

प्रमीला फिर मौन हो गई। जयन्त को ऐसा लगा, मानो प्रमीला जो कुछ कहना चाहती है, भय के कारण नही कह पा रही है। जयन्त प्रमीला के मुख की ओर देखता हुआ बोल उठा-हॉ हॉ, कहो ! डरती क्यो हो।

सचमुच मुझे डर लग रहा है !—प्रमीला बोल उठी-ऐसा भयानक स्वरूप ! मै तो अब भी सोच कर कॉप उठती हूँ। बडी बहू का ऐसा भयानक स्वरूप ! वे विकराल रूप धारण करके हँसती हुई बच्चे के पास आई और उसे लेकर चली गई।

मेरा बच्चा !—प्रमीला रो उठी, और रोते ही रोते पुनः कहने लगी, न, अब मै इस घर मे न रहूँगी। आज बच्चा बीमार हो गया, और कल और कुछ हो जाय, तो मै क्या करूँगी। तुम्हारी तबीयत हो तो तुम रहो, पर मै तो न रहूँगी।

प्रमीला अपनी बात कह कर मौन हो गई, पर जयन्त के हृदय मे ऑधी सी चल पड़ी। ऐसा लगा, जैसे जयन्त के हृदय-विपंची के तार एक साथ ही झनझना उठे हों, और उसके मुख से सहसा निकल पड़ा, तो क्या तुम्हारा यह तात्पर्य है प्रमीला, कि

मैं श्रद्धा को अलग कर दूँ, या स्वयं उससे अलग हो जाऊँ !

आज यह पहली सहानुभूति है, जो प्रमीला के साथ विवाह होने के पश्चात् जयन्त के हृदय में उत्पन्न हुई थी, और कदाचित् इसका कारण वह ठोकर थी, जो प्रमीला ने निर्दयता के साथ श्रद्धा को लगाई थी। मनुष्य के कठोर हृदय में भी उसकी मानवी-प्रकृतता तो छिपी रहती ही है, और अच्छे-बुरे संस्कार के कारण देर-सवेर में उसका जन्म भी होता है। जयन्त के हृदय में श्रद्धा के प्रति कुछ वैषम्य भाव अवश्य उत्पन्न हो उठा था, पर उसके हृदय की मानवी-प्रकृतता, जिसे सहानुभूति कहते हैं, उस ठोकर को सहन न कर सकी. जिसे प्रमीला ने श्रद्धा को लगाई थी। जयन्त अपनी बात समाप्त करके गंभीर हो उठा, और ऐसा लगा, मानों उसके हृदय पर दुख की काली घटा बरस पड़ी हो। प्रमीला ने जयन्त की बात सुनकर एक बार उसकी आकृति को ओर देखा; फिर वह आर्द्रकंठ से बोल उठी—यह कौन कहता है, तुम उन्हें अलग कर दो या उनसे अलग हो जाओ ! तुम उन्हें लेकर सुख से रहो; पर मुझ पर दया करो। मै अब इस घर में एक क्षण भी न रहूँगी। सबेरा होते ही या तो इस घर को छोड़ दूँगी; या अपने मैके चली जाऊँगी।

पर यह घर तुम किसके लिये छोड़ोगी प्रमीला!—जयन्त बोल उठा—क्या श्रद्धा के लिये ! प्रमीला, तुम्हारे मन की यह कमजोरी है। बच्चे का अशुभ होना होगा, जहाँ भी कहीं रहेगी होगा। सोचो प्रमीला, श्रद्धा को हम कैसे अलग कर दें ? उसे आखिर किसके सहारे छोड़ दें ? उसने तुम्हारे लिये अपना सब कुछ तो छोड़ दिया है ! क्या तुम उसके लिये इतना भी नहीं चाहती, कि वह घर में पड़ी-पड़ी दो रोटियाँ खा लिया करे।

जयन्त ने अपनी यह बात उस कंठ से कही थी, जो हृदय की कोमलता से अधिक स्निग्ध हो उठा था। पर जयन्त की इस बात ने

प्रमीला के हृदय में आहुति का सा काम किया। प्रमीला का हृदय भीतर ही भीतर जल उठा। एक बार उसके भीतर की अग्नि प्रज्वलित होने के लिये विकल भी हुई; पर प्रमीला ने बड़ी दृढता से उसे भीतर ही भीतर दबा दिया। प्रमीला ने उसे दबा तो दिया, पर जब वह बोली, तो स्पष्टतः उसकी वाणी में उस आग की चिनगारियाँ खेल रही थी। जयन्त की बात सुन कर प्रमीला कुछ देर तक चुप रही, फिर बोल उठी—कौन कहता है, श्रद्धा को अलग कर दीजिये! अलग तो मुझे होना पड़ेगा, जो जान बूझ कर इस खाई में कूदी है।

और फिर प्रमीला ने अपना मुँह फेर लिया। वह मुँह फेर कर चारपाई पर पड़ रही। जयन्त भी न जाने क्या सोच कर चारपाई से उठ कर खड़ा हो गया, और बाहर निकलकर आँगन में आया। रात साँय-साँय कर रही थी; और अंधकार में आकाश की नीलिमा डूब-सी गई थी। उस अधकार में आकाश में जो तारे चमक रहे थे, वे ऐसे लग रहे थे, मानों काली साड़ी मे सितारे टँके हों।

जयन्त जब कमरे से निकल कर आँगन मे आया, तब उसे अंधकार मे एक छाया-सी जाती हुई दिखाई पड़ी। जयन्त के रोंगटे खड़े हो गये, और वह पूछ उठा–कौन?

पर छाया ने कोई उत्तर न दिया। वह श्रद्धा के कमरे के द्वार तक जाकर अदृश्य हो गई। जयन्त के हृदय में भीतर ही भीतर यह उठ कर गूँज कर रह गया, "कौन, श्रद्धा!"

[५]

रात्रि के बारह बज रहे थे। अंधकार स्तब्धता के गले में हाथ डाल कर अभिनय कर रहा था, और रजनी? रजनी उस अभिनय पर प्रसन्न होकर संगीत गा रही थी। रजनी का वह संगीत! उसका एक-एक शब्द छिटककर भयानकता की सृष्टि कर रहा था। संसार कदा-

चित् उसी भयानकता से भयभीत होकर चुप चाप आँखे बन्द किये पड़ा था। पर श्रद्धा! वह जैसे कर में विजय-केतु लिये हुये, उसी भयानकता की छाती पर पैर रखती हुई, आगे बढ़ी जा रही थी। कहाँ जा रही थी, यह तो कदाचित् श्रद्धा को भी ज्ञात न था। ऐसा ज्ञात होता था, मानों वह संसार की दृष्टि से बच कर अंधकार के उस महासागर में अपने को विलीन कर देना चाहती हो।

सहसा श्रद्धा के पैर रुक गये। उसने देखा; आगे सरिता है, जो चुप चाप वही जा रही है। श्रद्धा सरिता की ओर देखने लगी। श्रद्धा सरिता की ओर देख कर अभी मन ही मन सोच ही रही थी, कि पीछे से कोई बोल उठा—श्रद्धा !

उसने आगे बढ़ कर श्रद्धा को पकड़ लिया। श्रद्धा आश्चर्य-चकित होकर बोल उठी—'आप !'

हाँ श्रद्धा मै ! तुम्हारा अपराधी जयन्त !—वह व्यक्ति बोल उठा-मुझे क्षमा करो !

पाठक, वह जयन्त था। प्रमीला और जयन्त में जब रात मे बात चीत हो रही थी; तब श्रद्धा द्वार पर खड़ी-खड़ी उसे सुन रही थी। श्रद्धा का हृदय आन्दोलित हो उठा। वह दिन भर अपने कमरे में पड़ी-पड़ी अपनी स्थिति पर विचार करती रही। उसने अपने साथ ही जयन्त की स्थिति पर भी विचार किया। अपनी और जयन्त की स्थिति पर विचार करने पर उसे ज्ञात हुआ, कि उससे कही अधिक जयन्त की स्थिति संकटापन्न है। श्रद्धा के कर्तव्य ने उसे फिर एक बार ललकारा, और श्रद्धा ने कर्त्तव्य के आह्वान पर अपने जीवन की ही बाजी लगा दी। उसने जयन्त के नाम एक पत्र लिख कर अपनी चार-पाई पर छोड़ दिया और जब रात्रि हुई; तब अंधकार मे चुप-चाप घर से निकल पड़ी ! किस उद्देश्य से, यह तो श्रद्धा को भी ज्ञात नही था।

श्रद्धा जब घर से निकली, तब बारह बज रहे थे। सारा संसार

निद्रा में मग्न था; पर जयन्त की आँखों में उस समय भी नींद न थी। प्रमीला की बात ने उसे अधिक चिन्ता में डाल दिया था। वह आज दिन भर अधिक उदास रहा। वह दिन में दो-तीन बार श्रद्धा के कमरे की तरफ भी गया। क्योंकि उसने यह जान लिया था, कि उस बातचीत का उसके हृदय पर क्या प्रभाव पड़ा? कभी-कभी उसका हृदय आशंकित भी हो उठता था और वह विचारों के वेग में बहुत कुछ सोच जाता था। रात्रि की उस स्तब्धता में भी जयन्त श्रद्धा और प्रमीला के ही संबंध में सोच रहा था। कभी श्रद्धा उसकी आँखों के सामने आती, तो कभी प्रमीला। प्रमीला जब उसकी आँखों के सामने आती तो उसे ऐसा ज्ञात होता, मानों उसकी आँखों से कोप की ज्वाला निकल रही है, चेहरा तमतमाया हुआ है, और वाणी से कर्कशता फूट रही है, किन्तु जब श्रद्धा उसकी आँखों के सामने आती तो दुखो, उदास और करुणा की प्रतिमूर्ति सी। जयन्त का हृदय भीतर ही भीतर श्रद्धा की ओर खिंचा जा रहा था और वह यह सोच रहा था, "कभी नहीं, वह श्रद्धा से कभी अलग न होगा। श्रद्धा देवी है, स्वर्ग की प्रतिमा है।"

जयन्त अभी सोच ही रहा था, कि धीरे से मुख्य द्वार की किवाड़ खटकी। जयन्त ने खिड़की से झाँक कर देखा। उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मनो उसके घरके भीतर से कोई छाया-मूर्ति निकल कर अंधकार में समाविष्ट हो गई हो। जयन्त का हृदय आशका से विकम्पित हो उठा, और हवा के झोंके की भाँति कमरे से निकल कर उस छाया-मूर्तिके पीछे-पीछे लग गया। कुछ दूर जाने पर जयन्त को निश्चय हो गया, कि वह श्रद्धा है। श्रद्धा जब सरिता के तट पर पहुँच कर खड़ी हो गई; तब जयन्त ने पीछे से पहुँच कर उसे पकड़ लिया। जयन्त की बात सुनकर श्रद्धा बोल उठी—मुझे छोड़ दीजिये नाथ, मेरा कर्त्तव्य मुझे बुला रहा है।

और मेरा भी कर्त्तव्य मुझे विवश कर रहा है श्रद्धा !—जयन्त बोल उठा—मैं अब तुझे कदापि छोड़ नही सकता। मनुष्य की आँखों की चेतना स्वार्थ से नष्ट हो जाती है श्रद्धा ! श्रद्धा, मुझे क्षमा कर दो।

और जयन्त श्रद्धाके सामने झुक गया। पर जयन्त के झुकने के पूर्व ही श्रद्धा उसके चरणों पर थी। जयन्त श्रद्धा को अपनी गोद में लेकर प्यार से उसका सिर सहलाने लगा। जयन्त का वह प्यार !

तारे और भी अधिक जोर से हँस पड़े; और एक ऐसी ज्योति फूट आई, कि अंधकार भी उसकी चमक से आलोकित हो उठा; और आलोकित हो उठा श्रद्धा का वह भाग्य, जिसके कारण वह अब तक उपेक्षित थी।

× × ×

मरुभूमि में कमल का पुष्प ! प्रमीला बोलती तो कुछ न, पर जब उसे देखती, तो उसके सौन्दर्य से अपने आप ही उसका मस्तक झुक जाता और अनन्दी ? वह तो मधुकर की भाँति उसपर मँड़रा-मँड़रा कर श्रद्धा के गीत गाने लगती ! जयन्त यह सब कुछ देखता, पर न तो प्रसन्न होता, और न उदास ! वह केवल इतना ही सोच कर रह जाता, "संसार स्वार्थी है, महा स्वार्थी !"

नई साड़ी

सन्ध्या के पॉच बज रहे थे। अनिल जब ए० जी० आफिस से अपने घर की ओर चला, तब उसकी जेब में सौ रुपये के नोट थे। अनिल को उस दिन उसका वह वेतन मिला था, जिसकी उसे महीना आरंभ होते ही उत्सुकता पूर्ण प्रतीक्षा थी। अनिल आफिस के उन बाबुओं मे से था, जो काम तो कम करते है, पर जिनकी दृष्टि मास प्रारंभ होते ही वेतन के स्वर्णिम शिखर पर लग जाती है। पर न जाने क्यों, अनिल को जिस दिन वेतन मिलता, वह अधिक उदास हो जाता, और न जाने कौन सी चिन्ता उसके मनके भीतर बैठकर अपना मन्द मन्द घुँघरू बजाया करती।

उस दिन भी अनिल अधिक उदास था, और न जाने क्या मन ही मन सोच रहा था। वह पैदल ही अपने घर की ओर जा रहा था। गर्मी की सन्ध्या थी। यद्यपि सूर्य की किरणों की गर्मी उतर गई थी, पर हवा सूर्य की किरणों की प्रचंडता पर अब भी इठला रही थी और वह रह-रह कर जब शरीर मे धक्के मारती थी, तो शरीर के लोम-लोम तक, कॉपकर उसके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हो जाते थे। अनिल के शरीर मे जब यह हवा लगती थी, तो उसे ऐसा ज्ञात होता था, मानो उसके शरीर के लोम ही नही, हड्डियाँ तक कॉपी जा रही है। अनिल के शरीर में हड्डियाँ ही रह भी गई थी ! रहा होगा कभी उन हड्डियो पर मांस, पर अब तो ऐसा लगता था, मानों भीतर ही भीतर हड्डियो के ऊपर का मास किसी ने नोच लिया हो और अब उसके ऊपर के खोल के भीतर हड्डियों का पजर ही अब शेष रह गया हो। जान पड़ता है, उन हड्डियो में ही अनिल के प्राण फॅसकर कहीं उलझे हुये थे। नहीं तो, देखनेवाले साफ-साफ कहते, कि न जाने यह अनिल कैसे चलता, फिरता और अपना काम करता है !

रूखी-सूखी अनिल की आकृति, और नेत्रोंके नीचे गहरी श्यामता! देखने से ही ऐसा लगता, मानों उसके भीतर का रस किसी ने निचोड़ लिया हो। दफ्तर के दूसरे बाबू जब अनिल के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुये उसे यह सलाह देते, कि वह किसी अच्छे डाक्टर से मिले, या किसी देशी वैद्य से अपनी चिकित्सा कराये, तब अनिल उत्तर तो कुछ न देता, किन्तु उसके भीतर से दीर्घ निश्वास-सी निकल पड़ती। दफ्तर में, अपने वेतन को ही अधिक महत्त्व देनेवाले बाबू भी अनिल की दीर्घ निश्वासों को देखते, किन्तु वे कदाचित् ही यह अनुभव करते, कि अनिल के भीतर वेदना का कोई एक ऐसा ज्वार उफन रहा है, जिसकी दवा किसी डाक्टर और वैद्य के पास नहीं!

अनिल की वह वेदना! उसकी हड्डियाँ भीतर ही भीतर उसकी आग से जली जा रही थीं! घर या बाहर, कहीं भी उसे सुख न मिलता। ठंढी बयार भी उसे आग की ही भाँति ज्ञात होती और प्रमोद की फुहियाँ भी उसके हृदय पर इस प्रकार गिरतीं, मानों कोई धीरे-धीरे उसके हृदय पर विष का लेप कर रहा हो। अनिल भरसक चेष्टा भी करता, कि उसके हृदय की वेदना उसका साथ छोड़ दे, पर छोड़ने को कौन कहे, वह तो अपने जीवाणुओं की संख्या इस प्रकार अनिल के हृदय में बढ़ाती जा रही थी, जिस प्रकार संक्रामक रोगों के कीटाणु शरीर के सम में जन्म लेने पर फिर शीघ्र ही अपनी संख्या बढ़ा लेते हैं।

अनिल की वेदना! वह अपनी वेदना के ही संबंध में सोचता हुआ शनैः शनैः सड़क की पटरी से आगे बढ़ रहा था। अपनी वेदना के संबंध में सोचता हुआ अनिल कभी अपने जेब में भी हाथ डाल देता, और जब उसका हाथ जेब में नोटों पर पड़ता, तब जैसे उसके हृदय की उदासीनता श्रावण के बादलों की भाँति और भी अधिक उमड़ पड़ती और उसकी मन्द प्रगति और भी अधिक मन्द पड़ जाती।

जैसे उसकी प्रगति-पक्षी के पख ही झड़ जाते और वह निरुपाय होकर गिर पड़ता, और आँखों में विवशता भरकर आकाश की ओर देखने लगता। पर अनिल को अपने घर तो जाना ही था! अतः यद्यपि चिन्ता रह-रह कर उसके पैरों को अपनी जंजीरों से बाँध रही थी, पर फिर भी अनिल के पग एक के पश्चात् एक उठते ही जा रहे थे।

जैसे धीरे-धीरे अनिल के पग उठ रहे थे, वैसे ही धीरे-धीरे अनिल की चिन्ता के चित्र भी एक के पश्चात् एक उसके हृदय पटल पर आ रहे थे। चिन्ता का जब कोई एक चित्र उसके हृदय-पटल पर अंकित होता, तब वह उससे उसी प्रकार चिपक जाता, जिस प्रकार उसका कोई एक पग पृथ्वी पर पड़कर उससे चिपक जाता था। अनिल की वह चिन्ता! उसके जेबमें कुल सौ रुपये के नोट थे। बीस रुपये वह मकान का भाड़ा देगा, पचास रुपये उसे उन साड़ियों के देने है, जिन्हें वह गत मास में अपनी पत्नी के लिये ले गया था। घर पहुँचते ही दूधवाला आयेगा और वह आज रुपया लिये बिना न टलेगा और वह आगा! उसे तो देखते ही अनिल के प्राण तक काँप जाते है। किसी प्रकार वह दूधवाले को मना लेगा, महरिनि को कल्ह पर टाल देगा, और बजाज को भी, हाथ-पैर जोड़कर मना लेगा, पर वह आगा तो किसी प्रकार टस से मस होनेवाला नही। अनिल चाहे जितनी ही अधिक गाढी बूँद उसके हृदय पर गिराये, पर वह उसपर एक क्षण के लिये भी न रुकेगी। वह अवश्य अनिल के पहुँचने के पूर्व ही उसके द्वार पर पहुँच गया होगा और गृद्ध की भाँति लोलुप तथा रक्तमयी दृष्टि से उसका पथ देखता होगा। अनिल को जहाँ उसने देखा नहीं, कि झट उसके मुखसे निकल पड़ेगा, लाओ रुप्पी!

यदि उसके कथन के साथ ही अनिल का हाथ जेब मे न चला गया और उसने पचास रुपये निकालकर उसके हाथ पर न रख दिये तो, फिर वह सारी पृथ्वी-सी खोद कर फेंक देगा। इधर यदि अनिल पचास रुपये उसे दे देगा, तो फिर वह अपना अन्यान्य मासिक व्यय

कैसे चलावेगा ? चिन्ता की लहरियों में डूबता उतराता हुआ चला जा रहा था। अब वह सड़क के उस भाग को, जिसके स्तब्ध जीवन में कभी-कभी मोटरों का रव ध्वनित हो उठता है, पार कर बाजार में पहुँच गया था। बाजार में पहुँचने पर अब अनिल के चिन्ता-विचार पूर्ववत् स्थिर न होने पा रहे थे। अनिल का हृदय था तो अब भी चिन्ता की लहरों से परिपूर्ण, पर अब एक्के, ताँगों और मोटरों के रव से उसकी चिन्ता साधना रह-रहकर टूटी-सी जा रही थी, और इसीलिये उसे ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानो उसके हृदय के भीतर चिन्ता चिकोटियाँ काट रही है।

नैश और पीड़ा की गोद में प्रसुप्त व्यक्ति का जीवनाधार चिन्ता-कल्पना ही हुआ करती है। मनुष्य जब किसी वेदना से विह्वल होकर परिश्रान्त हो उठता है, तब वह चिन्ता के ही अंक में बैठकर कल्पना के तार जोड़ता है। यह सच है, कि चिन्ता के अंक में बैठकर कल्पना के तार जोड़ने से उसकी वेदना में कुछ न्यूनता नहीं आ जाती, किन्तु यह सच है, कि उसके वेदना-विह्वल हृदय को कुछ संतोष अवश्य प्राप्त होता है और जब उसका यह संतोष भी उससे अलग हो जाता है, तब उसके हृदय के भीतर ही भीतर आकुलता का ज्वार-सा उफन पड़ता है और उस उफान से वह अपने भीतर अत्यधिक विकलता का अनुभव करने लगता है। अनिल को भी अपने भीतर यही विकलता ज्ञात हो रही थी। कुछ क्षण तक तो अनिल ने अपने भीतर की इस विकलता से संघर्ष किया, पर जब अन्तर्जगत में उसकी उमस अधिक बढ़ गई, तब अनिल उससे अपना पिण्ड छुड़ाने के लिये अपने पैरों में और भी अधिक सक्रियता लाने लगा। यदि अनिल का वश चलता तो वह शीघ्र ही कोलाहल से भरे हुये उस संसार से उड़ जाता और निर्जन के अंक में गिरकर पुनः अपनी चिन्ता के तार ठीक करने लगता, पर शोक ! अनिल के पैर वायुयान न थे। अनिल तीव्र-गति से पटरी के पथ से आगे बढ़ रहा था।

सहसा कोई पुकार उठा—अनिल बाबू !

अनिल रुककर बाईं ओर आकर्षित हो उठा। कपड़े का एक दूकानदार था, जो दूकान के एक ओर बैठकर सड़क की ओर देख रहा था। अनिल ने उसकी ओर देखा। अनिल को ऐसा लगा, जैसे उसका हृदय वीणा के तारों की भाँति झनझनाकर बन्द हो जाना चाहता हो। अनिल के हाथ अपने आप उठ गये—"नमस्ते, बाबू राम गोपाल !"

और अनिल दूकान मे जाकर एक ओर बैठ गया। दूकानदार ने अनिल की ओर देखा। अनिल का हाथ अपने आप जेब के भीतर चला गया और जब बाहर निकला तो उसमें सौ रुपये का नोट था। अनिल की साँस तीव्र गति से चल रही थी और उसके मस्तक पर स्वेद कण मोतियों की भाँति झिलमिला रहे थे। अनिल अपनी उसी अवस्था मे दूकानदार की ओर देखकर पूछ बैठा—आपके कितने रुपये चाहिये रामगोपालजी !

पचास रुपये !—रामगोपाल ने उत्तर दिया।

अनिल के हाथ काँप रहे थे। हाथ की उँगलियों की भाँति ही अनिल की चेतना भी काँप रही थी। अनिल ने अपनी स्थिति का अनुभव किया, पर उसने दृढता पूर्वक उसपर अपना अधिकार स्थापित करके दस-दस रुपये के पाँच नोट दूकानदार के हवाले कर दिये। पाँच नोट अब भी बिजली के पंखे की हवा मे अनिल के हाथ मे फड़-फड़ा रहे थे। यद्यपि अनिल उन्हे अपनी उँगुलियों से पकड़े हुये था, पर ऐसा लगता था, मानों वे उसकी उँगुलियो के घेरे को तोडकर बाहर निकल जाने के लिये शक्ति भर चेष्टा कर रहे हो।

अनिल ने एकबार उन नोटो की ओर देखा और फिर, दूकान मे इधर-उधर चारो ओर। रंग-रंग की सुन्दर साड़ियाँ टँगी हुई थीं और कुछ अलमारियो मे भी रक्खी हुई थी, जिनके सुन्दर किनारे आल-

मारियों के शीशे में अपनी बड़ी ही आकर्षक और लुभावनी छबि आँक रहे थे। उन साड़ियों को देखकर अनिल जैसे अधिक गंभीर-सा हो उठा। ऐसा लगा, जैसे उसे किसी बात का स्मरण हो आया हो और वह उसीके संबंध में विचार करने लगा हो! सचमुच अनिल को किसी एक बात का स्मरण हो आया था। आज प्रातःकाल, दस बजे जब अनिल खा-पीकर आफिस चलने के लिये तैयार हुआ था, तब उसकी स्त्री, चम्पा ने बड़ी ही दृढता के साथ उससे कहा था—याद है न! आज वेतन मिलेगा, आज मेरी साड़ी अवश्य आ जानी चाहिये, अनिल ने उसकी बात का कुछ उत्तर तो न दिया था, पर उसने उसकी ओर एक विवशता भरी दृष्टि से देखा अवश्य था। प्रातःकाल की वही विवशता इस सन्ध्या में भी अनिल की आँखों मे नाच रही थी। अनिल को जब चम्पा और उसकी साड़ी का स्मरण हुआ, तब अनिल को जैसे उसके भीतर की सारी चिन्ता विस्मृत हो गई और फिर विस्मृत क्यों न हो जाय? यही तो वह उद्गम था, जहाँ से उसकी चिन्ता के निर्झर उद्भूत होकर उसके हृदय-स्थल को अभिसिंचित किया करते थे।

प्रति मास एक साड़ी तो चम्पा के लिये साधारण सी बात थी। किसी-किसी महीने में जब चम्पा के हाथ में रुपये होते तो वह चार-चार तक साड़ियाँ खरीद लिया करती थी। चम्पा उन स्त्रियों में थी, जो अपने प्रसाधन की आग में अपना सर्वस्व झोंकने के लिये सदैव उद्यत रहती है। चम्पा देखती थी अनिल के उस शरीर को, जिसमें केवल अस्थि-पञ्जर अवशेष रह गया था, और देखती थी उसकी उन साँसों को, जो टूटने के लिये भीतर ही भीतर समाकुल हो रही थीं, पर चम्पा ने कभी अपनी सहानुभूति का कोमल हाथ अनिल की छाती पर न रक्खा। चम्पा की दृष्टि में पति का काम केवल यह था, कि वह उसकी अभिसार की वेदिका पर, यदि आवश्यकता पड़े तो, अपने

शेष को निःसंकोच निःशेष कर दे! चम्पा ने अपने हृदय में पुरुष के लिये जो मार्ग निश्चित कर लिया था, उस पर चलने में यदि कभी अनिल से भूल हो जाती, या विवशता वश वह उस पर न चल पाता तो चम्पा उसके हृदय पर अग्नि की चिनगारियाँ उँडेलने से बाज न आती। अनिल यों तो मौन हो कर के ही उसकी चिनगारियों को अपने हृदय-अञ्चल में लेता, पर उसके हृदय के भीतर इससे पीड़ा की आँधी अवश्य उठा करती थी, और नित्य उड़ा करती थी। उसके हृदय मंच पर एक ऐसी चिन्ता, जो अपने पैरों के घुँघुरु के एक-एक ताल पर उसके हृदय कोष से उसके हृदय का एक-एक खण्ड बाहर निकाल लिया करती थी, सदैव नृत्य करती रहती थी। कभी कभी अनिल जब आकुल हो जाता, तब वह चम्पा की चिनगारियों को चुपचाप ग्रहण करने से अस्वीकार भी कर देता, और प्रतिवाद करने के लिये उद्यत हो जाता। जब कभी अनिल ऐसा करता तब उसके लिये उसका घर सराय से भी अधिक मोह-शून्य हो जाता! चाहे जब वह आये, और चाहे जब वह चला जाये! चाहे कुछ खाये या न खाये! घर की मिट्टी की दिवालों को भले ही अनिलकी दशा पर दया आ जाती हो, पर चम्पा वज्र से भी अधिक कठोर ही बनी रहती थी, और वह पिघलती थी उस समय, जब या तो अनिल पश्चाताप की सरिता बहा देता था, या फिर पास में पैसा न होने पर ऋण लेकर उसे साड़ियाँ ला देता था।

जब कभी चम्पा और अनिल में वाद-प्रतिवाद होता तो, चम्पा तो चुप चाप पलँग पर जाकर सो जाती, और अनिल के हृदय में दौड़ पड़ती चिन्ता की भयानक आँधियाँ! अनिल को कितना कष्ट होता उन आँधियों में उड़ते हुए! यही कारण है कि अनिल भरसक चम्पा की अभिलाषाओं को पूर्ति करने में कुछ कोर-कसर न करता। वह आर्थिक अभाव की आग में जल लेता, बाहर निकलता तो अपने ऋण-दाताओं की कटु फटकार को हृदय पर पत्थर रख कर सहन कर लेता,

पर चम्पा को कुपित या असंतुष्ट करके घर को सराय न बनाता! पर चम्पा, कदाचित् ही कभी अनिल की इस हृदय-विशालता का अनुभव कर पाती हो। यही तो अनिल को बहुत बड़ा दुख था, जिसकी आग में वह भीतर ही भीतर जला जा रहा था। अनिल के इस दुख की महौषधि क्या संसार में कहीं किसी के पास मिल सकती है!

बजाज की दूकान में टॅगी हुई साड़ियों को देख कर जब अनिल को चम्पा की साड़ी का स्मरण हो आया, तब उसकी आँखों के सामने उसके संपूर्ण जीवन का एक चित्र सा घूम गया। उसने थोड़े ही क्षणों में चम्पा को देखा, और देखा चम्पा के उस स्वरूप को, जो साड़ी न मिलने के कारण प्रलय की भाँति कुपित हो उठती है। अनिल का ध्यान अपने गृह जीवन पर भी गया, और उसने देखा, कि साड़ी न मिलने के कारण वह सराय-सा बन गया है, और अनिल उसमे वेदना से आहत होकर छट पटा रहा है! अनिल के मुख से एक दीर्घ निश्वास निकली, और वह बिजली-विजन की हवा में विलीन हो गई। अनिल कुछ देर तक मन ही मन सोचता रहा, फिर बोल उठा—राम गोपालजी कोई साड़ी दीजियेगा!

अनिल के हाथ में अब भी पचास रुपये के नोट फड़फड़ा रहे थे रामगोपाल ने एक बार उन नोटों की ओर देखा! उन नोटो को एक बार देखने पर—या रामगोपाल के मन में यह आया, कि वह कह दे, क्यों नहीं? पर वह कुछ सोच कर रुक गया। कौन जाने अनिल साड़ी का दाम नकद, न दे! सौ रुपये तो उसे वेतन ही मिलता है, और पचास रुपये उसने उसमें से पिछले दे दिये। अब आज की साड़ी का मूल्य नकद कहाँ से देगा! ये पचास रुपये ही बड़ी कठिनाई से निकल पाये है! फिर-फिर! रामगोपाल मन ही मन सोच कर बोल उठा-साड़ी कहाँ से दे अनिल बाबू! आप जानते ही है, इस

कन्ट्रोल के युग में गिनी गिनाई साड़ियाँ मिलती है और वे कार्डवालो के लिये भी पर्याप्त नहीं होतीं।

अनिल ने रामगोपाल की ओर देखा। रामगोपाल ने भरसक प्रयत्न तो किया, कि उसके नेत्रों में जो सन्देह अनिल के प्रति नृत्य कर रहा है, उसे अनिल न देखे, पर मनुष्य के मन की भाँति आँखे उतनी कपटी नही होतीं। अनिल ने जब रामगोपाल की ओर दृष्टिपात किया तो रामगोपाल के मन ने तो भरसक छिपाया, पर उसके नेत्रों ने अनिल के सम्मुख पूरा का पूरा पृष्ठ खोल दिया। अनिल तुरन्त बोल उठा—दाम नकद दूँगा बाबू रामगोपाल!

अनिल ने रामगोपाल के ऊपर चोट तो की, पर रामगोपाल ऐसा खिलाड़ी नहीं, जिसके मोहरों को सरलता पूर्वक मात की जा सकती हो। वह भी तुरंत बोल उठा—आप भी कैसी बात करते है अनिल बाबू! क्या आप कभी बिना दाम दिये हुये साड़ियाँ नही ले गये हैं? सच बात यह है, कि आज कल्ह हम लोगों की रोटी तलवार के धार पर की है। देना तो चाहते है आपको साड़ी, पर दें कहाँ से! गिनी गिनायी साड़ियाँ है। यदि कही पकड़ में आ गये, तो लेने के देने पड़ जायँगे।

यद्यपि रामगोपाल की बात में यथार्थता थी, पर अनिल के हृदय पर उसकी इस यथार्थता का कुछ भी प्रभाव न पड़ा और प्रभाव न पड़ने के बहुत से साधार गुप्त कारण भी थे। अनिल ने तो यही समझा और निश्चय पूर्वक समझा, कि रामगोपाल ने जो साड़ी देने से अस्वीकार किया, उसका यही कारण है, कि उसे उससे रुपया पाने में अधिक सन्देह है। अनिल ने एकबार पुनः रामगोपाल की ओर देखा, पर रामगोपाल ने इस बार अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर ली। अनिल कुछ देर तक चुपचाप बैठा रहा और फिर सर्वस्व-हारा की भाँति दूकान से बाहर निकलकर पुनः सड़क के किनारे किनारे चलने लगा। अनिल की आँखों के सामने पुनः चक्र की भाँति वही

चित्र घूमने लगा। चम्पा ! घर पहुँचते ही चम्पा साड़ी के लिये पूछ बैठेगी और यदि उसे साड़ी न मिली तो फिर निश्चय है, घर सराय बन जायगा। उस सराय में वह अनिल ! अनिल उसके स्मृति-मात्र से काँप उठा। वह कुछ रुका और उसने एकबार इधर-उधर देखा ! वह कपड़े के बाजार के बीच में था। दोनों ही ओर कपड़े की दूकानें थीं, जिनमें रंग-विरंगी साड़ियाँ टँगी हुई थीं। दूकानदारों में कुछ ऐसे भी थे, जो अनिल के परिचित भी थे। यद्यपि अनिल ने कभी उनके साथ लेन-देन नहीं किया था, पर स्थिति की विवशता ! अनिल साहस करके एक-एक की दूकान में गया। वह ऐसी भी दूकानों में गया, जिनके दूकानदार अनिलसे पूर्णतया अपरिचित थे। पर जब परिचितों ने ही असमर्थता प्रगट करते हुये अस्वीकार कर दिया तो अपरिचितोंबात क्या ! अनिल के पैर पृथ्वी से जैसे जकड़ से उठे। वह जब निराश होकर घर की ओर मुड़ा, तब उसे ऐसा ज्ञात हुआ, मानों उसके हृदय पर निराशा का तुषार सा बरस रहा है। रह-रह कर चम्पा और उसकी आकृति अनिल की आँखों के सामने आ रही थी, और रह-रहकर वह चित्र उसके सामने नाचा जा रहा था, जिसमें उसका घर सराय बन गया था और वह आश्रय-हीन पक्षी की भाँति उस सराय में इधर-उधर चोंचे मार रहा था।

विपत्ति-ग्रस्त अनिल ! काँपते हुये हृदय से घर की ओर शनैः शनैः बढ़ रहा था ! उस समय ठोकर जनित मूर्च्छना को वह कुसुम समझता था, और मृत्यु को जीवन का निमंत्रण, पर विपत्ति ग्रस्त मनुष्यों के पास न तो मूर्च्छना ही आती है, और न मृत्यु ही ! अनिल रह-रह कर उन्हें निमंत्रण दे रहाथा, पर वे दोनों ही उससे भागी जा रही थीं, दूर-बहुत दूर !! कदाचित् मानव जीवन की यथार्थता को प्रमाणित करने के लिये ! काश, अनिल के जीवन की झाँकी से मानव-जीवन की यथार्थता हम देख सकते !

[२]

रात्रि के आठ बज रहे थे। नगर मे खुली हुई सड़कों के किनारे बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थी। पर गलियों में अब भी अन्धकार ही था। कही-कहीं उस अन्धकार में खम्भो में लगे हुये मिट्टी के तेल के लैम्प अपने ही भाग्य पर क्रन्दन कर रहे थे। खुली हुई सड़कों और गलियो के उस प्रकाश को यदि कोई दार्शनिक देखता तो वह यही कहता, कि मानव की प्रकृति ही ऐसी होती है, कि वह भीतर प्रवेश न करके बाहर ही अधिक दौड़ता है।

अनिल की उस गली मे भी जिसमे उसका मकान था, अन्धकार बरस रहा था, ओर उस अन्धकार से गली के समस्त मकान ऐसे ज्ञात हो रहे थे, मानों उन पर किसी ने कालिमा पोत दी हो। अनिल जब अपने घर के दरवाजे का किवाड़ ठेल कर भीतर गया, तो बाहर की ही भाँति घरमे भी उसे अन्धकार दिखाई पडा। अनिल ने कमरे मे जाकर अपना कपडा उतारा, और फिर वह आँगन में आकर खडा हो गया। चम्पा जो ऊपर थी, कुछ आहट पाकर बोल उठी–कौन ?

मै हूँ। 'अनिल ने मन्द स्वर में उत्तर दिया'

साढ़े आठ बज रहे है। और अब आपको छुट्टी मिली है। चम्पा ने ऊपर से ही कहा।

अनिल ने जो अपना हाथ-पैर धोने मे व्यस्त था, 'चम्पा की इस' बात का कुछ उत्तर न दिया। चम्पा कुछ देर तक उत्तर की प्रतीक्षा मे थी। पर जब उसे अनिल से कुछ उत्तर न मिला, तब वह अपने-आप नीचे उतर आई, और पूछ बैठी, लाये मेरी साड़ी बाजार से-।

चिन्ता की आग अनिल के हृदय को वैसे ही जला रही थी, ग्रीष्म की आतप्तता ने उसमे और भी अधिक योग दे दिया था। अनिल को ऐसा ज्ञात हो रहा था, जैसे उसके हृदय के भीतर ज्वाला-सी धधक

रही हो ! अनिल ने चम्पा की बात का कुछ उत्तर न दिया। वह आँगन में पड़ी हुई चारपाई पर लेट कर पंखा झलने लगा। चम्पा कुछ देर तक उत्तर की प्रतीक्षा करती रही, फिर कुछ तीव्र स्वर में बोल उठी—मैं पूछती हूँ, मेरी साड़ी लाये या नहीं।

अनिल को भली भाँति ज्ञात था, कि यदि वह चम्पा के हृदय के भीतर की चिनगारियों को विखेरता है तो फिर वे चिनगारियाँ उसके संपूर्ण जीवन को जला डालने में किसी प्रकार का संकोच न करेंगी। अनिल ने एक नही, कई बार उन चिनगारियों को देखा था, और देखा था उन्हें जीवन का तत्त्व जलाते हुये, पर फिर भी अनिल के हृदय में इस समय जो आकुलता नृत्य कर रही थी, उससे अधिक समाकुल हो कर अनिल बोल उठा-न पानी, और न जलपान ! बस, घर में पैर रखते ही साड़ी की रट लग गई।

अनिल के इस कथन से चम्पा के उस हृदय में, जो पति से अपनी समस्त आकांक्षाओं की पूर्ति का अभ्यासी बन गया था, और जिसमें पति के प्रति भी कुछ कर्तव्य है या नही, लेशमात्र भी यह विचार न था, आग जल उठी। यदि चम्पा का हृदय कोई खुला हुआ मैदान होता तो अनिल को स्वयं धधकती हुई आग की लपटें दिखाई देतीं ! हृदय की आग न देखी अनिल ने, पर चम्पा की वाणी की आग ने तो अनिल के अन्तर्जगत तक को कँपा दिया। चम्पा तीव्र स्वर में बोल उठी—तो क्या मै जलपान करने के लिये हाथ पकड़े हुये थी! बाजार खुला था, और पास में रुपये भी थे। खालिये होते खूब पेट भर कर !

फिर तुम्हारा घर में क्या काम था !—अनिल बोल उठा।

हाँ, मै तो इसी लिये घर में हूँ, कि दासी की भाँति सेवा की आग में अपने को दिन रात जलाया करूँ !—चम्पा व्यंगपूर्ण स्वर में बोल उठी-हाय, मेरे तो भाग्य फूट गये !

और बात समाप्त होने के साथ ही चम्पा की आँखों में आँसू छलक आये और वे इस प्रकार उसके कपोलस्थल से होकर नीचे ढुलकने लगे, मानों मुक्ताओं की लड़ियाँ बिखर कर एक-एक कर गिर रही हों! अनिल अन्धकार होने के कारण चम्पा के अश्रु-बूँदों को तो न देख सका, पर उसकी आर्द्र वाणी से शीघ्र ही वह यह समझ गया कि चम्पा के नेत्रों से प्रपात फूट पड़ा है। कह नहीं सकते, उस अश्रु-प्रपात से,या और किसी कारण से अनिल के उत्तप्त हृदय में कुछ शीतलता सी डोल गई, और वह सहानुभूति भरे स्वर में बोल उठा—आखिर तुम्हें भी तो कुछ समझना चाहिये। दिन भरके पश्चात् थका-माँदा आया हूँ। यदि एक गिलास ठण्डा जल भी न मिलेगा, तो आखिर मेरा हृदय क्या कहेगा? रही साड़ी की बात, तो तुम सच मानों, मैं एक एक दूकान खोज कर आया हूँ। साड़ी की तो बात क्या बिना कार्ड के कोई एक गज कपड़ा भी देने को तैयार नहीं!

अनिल अपनी बात को समाप्त कर गम्भीर हो उठा। कदाचित् वह भीतर ही भीतर अपने जीवन की परिस्थितियों पर विचार करने लगा हो! चम्पा ने अनिल की पूरी बात बड़े ध्यान से सुनी। इसमें सन्देह नहीं, कि अनिल की बात का प्रारंभिक अंश सुन कर चम्पा के उष्ण हृदय के किसी कोने में कोमल वारि-धारा फूट उठी थी, पर जब चम्पा ने अनिल की बात का अन्तिम अंश सुना तो करुणा की स्निग्धता अपने स्थान पर ही सूख गई, और उसका हृदय पहले से भी अधिक उत्तप्त हो उठा। वह उसी उत्तप्तता में अपनी वाणी को ढालती हुई बोल उठी—तुम ऐसे ही हो, जो तुम्हें सबके यहाँ से कोरा उत्तर मिलता है। आज ही श्याम के पिता चार-चार साड़ियाँ श्याम की अम्माँ के लिये लाये हैं!

पुरुष अपनी पत्नी से चाहे सब कुछ सुन ले, पर जब उसकी पत्नी किसी पर पुरुष से तुलना करते हुए उसकी तुच्छता प्रमाणित करती है

तो सरल से सरल हृदय के पुरुष के अन्तर में भी स्वाभिमान की आग धधक उठती है, और वह अपने पुरुषत्व की रक्षा के लिये सब कुछ करने के लिये उद्यत हो उठता है। अनिल के हृदय पर यद्यपि सहानुभूति लोट चुकी थी, पर जब अनिल ने चम्पा के मुख से श्याम के पिता की बात सुनी, और यह देखा कि चम्पा श्याम के पिता की अपेक्षा उसे हेय प्रमाणित कर रही है, तो अनिल के हृदय में पहले से कही अधिक उष्णता की तीव्र आँधी दौड़ उठी, और वह उसी के आवेग में बोल उठा—फिर श्याम के पिता से ही क्यों नही कहा ? तुम तो यह भली भाँति जानती ही हो, कि मै संसार में सबसे गया-गुजरा हुआ व्यक्ति हूँ।

यद्यपि अनिल ने यह बात इस ढंग से कही थी कि उसके शब्द-शब्द में उसकी अन्तर्वेदना फूटी पड़ रही थी, पर चम्पा के विपरीत हृदय पर उसका विपरीत ही प्रभाव पड़ा। अनिल की बात का समाप्त होना था नही, कि चम्पा वाक्-युद्ध के लिये उद्यत हो उठी ! अनिल का हृदय भी ज्वालासे धधक रहा था। वह चम्पा की अग्नि के समान दहकती हुई बातों को अपनी उन बातों से शान्त करने का प्रयत्न करने लगा, जो चम्पा की बातों से कुछ कम उत्तप्त नहा थी। थोड़ी देर तक तो वाक-युद्ध चला, पर जब भीतर के दानव ने अधिक उग्र रूप धारण किया तो अनिल ने अपना चप्पल उठाकर चम्पा पर फेक दिया। चम्पा ने भी अनिल का ही अनुगमन किया। अनिल अब और आगे बढ़ने के लिये उद्यत हुआ,और चम्पा उसका स्वागत करने के लिये, पर इसी समय एक समीपवर्ती छत से कोई सहानुभूति पूर्ण स्वर में बोल उठा—जाने भी दो भाभी !

सर्व प्रथम चम्पा की दृष्टि उस ओर गई, और उसके पश्चात् अनिल की ओर ! दोनों ने ही देखा, वह रमेश था, जो पार्श्ववर्ती मकान में रहता था। जब कभी चम्पा और अनिल में वाद-विवाद

होता था तो यह रमेश बीच-बचाव किया करता था। यद्यपि रमेश का उस समय कुछ बोलना अनिल को बिलकुल अच्छा न लगता था, पर अच्छा न लगने पर भी अनिल इस संबन्ध में प्रायः मौन ही रहता था, पर चम्पा अपने हृदय में इससे सर्वथा विपरीत भाव रखती थी। चम्पा और अनिल के वाद-विवाद में जब रमेश पड़ता तो चम्पा को उससे एक तरह का प्रोत्साहन ही सा प्राप्त होता। यद्यपि चम्पा अपने इस प्रोत्साहन को कभी स्पष्ट रूप से प्रगट न होने देती, पर उसे अपने हृदय के भीतर इसकी अनुरक्ति तो होती ही। कभी-कभी अनिल की अनुपस्थिति में, आवश्यकता पड़ने पर चम्पा रमेश से बात भी करती थी। कह नही सकते, कि चम्पा के हृदय मे इसकी कैसी प्रतिक्रिया होती थी, पर रमेश तो स्पष्टतः एक अपवित्र भावना को लेकर के ही चम्पा की ओर आकृष्ट होता था। चम्पा और अनिल में जब वाद-विवाद होता तो रमेश की उस भावना को और भी अधिक प्रोत्साहन मिलता। रमेश उस वाद-विवाद से इस परिमाण पर पहुँचता, कि चम्पा ओर अनिल मे आये दिन जो संघर्ष छिड़ा करता है, उसका एक मात्र कारण यह है, कि इन दोनों में किसी एक का हृदय ऐसा अवश्य है, जिसमें एक के लिये विरक्ति और असंतोष की दृढ भावना है। रमेश, इसी को आधार बना कर चम्पा की ओर शनैः-शनैः बढ़ रहा था। कह नही सकते, कि चम्पा रमेशकी इस मनोवृत्ति को भी जानती थी, और जानने पर भी उसका हृदय उससे प्रोत्साहन की सुरा का पान करता था, पर अनिल रमेश की इस मनोवृति से अवश्य कुछ-कुछ परिचित था। यह बात नहीं, कि वह बड़ा सूक्ष्म दर्शी था, और उसकी ऑखे उसके मांस-तन्तुओ को भेदती हुई उसके अन्तर्जगत में भी पहुँच गई थी। सच बात तो यह है, कि रमेश की जैसी प्रकृति थी, उसे देखते हुये किसी को भी यह बात रुचिकर प्रतीत नही हो सकती थी, कि वह उसकी पत्नी से बात करे; या जब

पति-पत्नी में किसी बात को लेकर विवाद उपस्थित हो जाय, तो वह उसकी पत्नी का पक्ष ग्रहण करे !

चम्पा और अनिल के पारस्परिक विवाद में जब रमेश बीच में ही बोल उठा और अनिल की दृष्टि उस पर गई तो अनिल के हृदय में एक आँधी-सी दौड़ उठी। और इस आँधी के दौड़ने का कारण था रमेश का कथन और उसके कथन का ढंग—"जाने भी दो भाभी !" अनिल के संपूर्ण अन्तर्जगत में यह बात गूँज कर रह गई; और फिर वह उसके हृदय-यंत्र को इस प्रकार रह-रह कर धक्का देने लगी, मानों उसे एक साथ ही झंकृत कर देना चाहती हो। अनिल कुछ देर तक मौन रहा; और भीतर ही भीतर अपने भीतर की आँधी में उड़ता रहा। फिर जब उसने कुछ कहने के लिये मुँह खोला; तब उसके कहने के पूर्व ही चम्पा रमेश की सहानुभूति प्राप्त करने के उद्देश्य से बोल उठी—देखते हो न भैय्या ! जरा मुँह में कालिख तो लगाओ !

हाँ देख रहे हैं भैय्या !—अनिल आवेश में बोल उठा—तुम मुँह में कालिख पोत चुकी हो; और उनका अब बाकी है। वे क्या मुँह में कालिख पोतेंगे !

बात बहुत साधारण सी थी, और अनिल उस समय जिस स्थिति में भ्रमर की भाँति परिभ्रमण कर रहा था; उसे देखते हुये तो और भी साधारण—सी थी, पर रमेश के उस हृदय पर, जो भीतर ही भीतर षड़यंत्र का एक जाल बुन रहा था; यह साधारण सी बात असाधारण ही बन कर पड़ी, और वह चम्पा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से बोल उठा—आपको लज्जा आनी चाहिये अनिल बाबू ! एक तो आप अबला पर अत्याचार कर रहे है ओर दूसरे हेकड़ी पर तुले हुये हैं। आपको जानना चाहिये, कि सभी लोग आपकी स्त्री की भाँति अबला नही हैं।

रमेश की यह बात अनिल के हृदय में जलती हुई आग को और भी अधिक भड़का देने के लिये पर्याप्त थी। बहुत संम्भव है, अनिल रमेश की बात का उत्तर उसी के स्वर में देता, और बहुत संभव है, कि अनिल और रमेशमे वाक्-युद्ध भी आरंभ हो जाता। रमेशकी बात का उत्तर देने के लिये अनिल के अधर फड़ फड़ाये भी, पर स्वर फूटने के पूर्व ही चम्पा तीव्र स्वर में बोल उठी--तुम ठीक कहते हो भैया! यह सबको अपने पैरों की जूतियाँ ही समझा करते है। कोई आकर मुँह में तमाचा लगाये, तो बुद्धि ठिकाने आ जायगी।

इस बात के कथन में चम्पा का चाहे जो भी भाव रहा हो, पर अनिल ने तो यही समझा, कि चम्पा रमेश को उसके मुँह मे तमाचा मारने के लिये निमंत्रण दे रही है। अनिलने चम्पा को अपने हृदय में चाहे जो भी समझा हो, पर उसने यह कभी न समझा था, कि वह अन्य पुरुप को उसके मुँह पर तमाचे मारने के लिये निमंत्रित भी कर सकती है। आज जब उसने चम्पा का यह नवीन और अकल्पित स्वरूप देखा, तो उसका वह हृदय जो ज्वालामुखी की भाँति धधक रहा था, अपने समस्त वैभवो को लेकर भीतर ही भीतर बैठ गया। और फिर मुख पर निराशा की एक ऐसी काली बहार दौड़ उठी, जिसकी उपमा कदाचित् उस सर्वभस्मीभूत भवन से दी जा सकती है, जिसकी केवल काली-काली दीवाले आकाश की ओर मुँह करके चुप चाप खड़ी हो।

रमेश छत पर उद्यत खड़ा था, अनिल की बात का उत्तर देने के लिये, और आँगन मे खड़ी थी चम्पा उस पर अग्नि की चिनगारियाँ बिखेरने के लिये, पर जब चम्पा ने तमाचे लगाने की बात कही, तो अनिल के अधर केवल फड़फड़ाकर रह गये। ऐसा लगा, मानो उसके कंठ को किसी ने आग्रस्त कर लिया हो। भीतर से शब्द उठे; किन्तु कंठ मे ही गूँज कर रह गये। अनिल के हृदय पर तुषार की एक ऐसी आँधी डोल गई, जिससे कुछ क्षणों के लिये उसका सारा

अन्तर्जगत ही जकड़ सा उठा। अनिल मौन रूप में कुछ देरतक खड़ा-खड़ा सोचता रहा; फिर अपना कुरता पहन कर बाहर निकल गया।

चम्पा ने अनिल को जाते हुये देखा; किन्तु उसके अधर न खुले। कदाचित् इसका कारण यह था, कि उसका हृदय क्रोध की आग से जल रहा था; और उड़ रहा था मन, चिन्ता की आँधी में।

[२]

बाबू, क्या मैं आपसे कुछ पूछ सकता हूँ ?

विक्टोरिया पार्क में एक बैंच पर बैठे हुये एक उदास व्यक्ति से एक अधेड़ पुरुष ने पूछा।

अधेड़ पुरुष की वेश-भूषा यद्यपि विकृत थी, यद्यपि उसकी आकृति पर, और उसकी बातों से भी प्रत्यक्षतः रुक्षता लिपटी हुई थी, पर उसके कथन में जो सहानुभूति थी, उससे वह उदास व्यक्ति उसकी आकर्षित हो उठा, और दुःखपूर्ण स्वर में बोल पड़ा--पूछो भाई; क्या पूछना चाहते हो ?

अधेड़ पुरुष ने एक बार ध्यान से उसकी ओर देखा। वह उसे देख कर कुछ देर तक मन ही मन सोचता रहा। ऐसा लगा, मानों कुछ स्थिर कर रहा हो; फिर वह बोल उठा—मैं आपको दो-तीन दिनों से इसी पार्क में बैठा हुआ देख रहा हूँ। क्या मै आप से पूछ सकता हूँ, कि आपका घर कहाँ है ?

उदास व्यक्ति ने अधेड़ पुरुष की ओर देखा। उसकी आँखों में क़रुणा और पीड़ा के उफान उठ रहे थे। उसने उस अधेड़ की ओर देख कर अपना सिर नत कर लिया। ऐसा लगा, जैसे वह उसकी बात का उत्तर देने के लिये मन ही मन कुछ सोच रहा हो। वह कुछ देर तक सोचता रहा; फिर मन्द स्वर में बोल उठा—कहाँ बताऊँ भाई, कि घर कहाँ है ?

क्यों, क्या वे घर-द्वार के हो!—वह अधेड़ व्यक्ति शीघ्र ही बोल उठा।

उदास व्यक्ति ने पुनः उस अधेड़ पुरुष की ओर देखा और इस बार जब उसने उसकी ओर देखा, तब दोनों की आँखें एक दूसरे से मिल गईं। निराश व्यक्ति की आँखे तो अधेड़ पुरुष की आँखों से टकरा कर नीचे झुक गईं, पर अधेड़ पुरुष उसकी ओर देखता ही रह गया। उसे ऐसा लगा, जैसे कोई रहस्य हो, और उसे अपनी ओर आकर्षित कर रहा हो!

वह कुछ क्षणों तक रहस्य मयी दृष्टि से उसकी ओर देखता रहा; फिर सहानुभूति के स्वर मे बोल उठा—यदि आपको असुविधा न हो तो आप मेरे साथ चल कर रह सकते हैं।

उदास व्यक्ति ने पुनः करुणा मयी दृष्टि से उस अधेड़ की ओर देखा! पर अब की दृष्टि पात मे पहले से अन्तर था। पहले जहाँ करुणा और पीड़ा थी; वहाँ अब एक कोने मे कृतज्ञता भी झलक रही थी। उस अधेड़ व्यक्ति ने जो सहानुभूति प्रदर्शित की, उससे उसका वेदना-विह्वल हृदय द्रवित हो उठा; और स्पष्टतः उसकी स्निग्धता उसके नेत्रो की पुतलियों मे भी झलक आई।

कहना न होगा, कि वह उसकी सहानुभूति के तारों में बंधा हुआ उठा, और उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

पाठक, क्या आप जानते हैं, कि यह उदास व्यक्ति जो उस अधेड़ पुरुष के पीछे-पीछे चल रहा है; कौन है? यह वही अनिल है; जिसे आप अभी अपने घर से बाहर निकलते हुये देख आये हैं। अनिल जब अपने घर से बाहर निकला, तो उसके हृदय पर दुख के प्रगाढ़ हिम की वर्षा सी हो रही थी। अनिल के हृदय की यह वेदना एक ऐसी वेदना थी, जिसके वेग मे पड़कर मनुष्य या तो स्वय अपने को मृत्युके अक में सुला देता है, या शान्ति की खोज मे इधर-उधर भटक ने लगता है। अनिल के हृदय में भी एक बार यह विचार प्रबल आँधी

की भाँति उठा, कि वह अपने आपही अपने जीवन के तन्तुओं को तोड़ दे। इसमें सन्देह नहीं, कि एक बार उसका मन इस विचार के अधिक सन्निकट भी पहुँच गया था; और वह रेल की पटरी के समीप तक पहुँच गया था; पर फिर न जाने क्या सोचकर स्टेशन की ओर मुड़ पड़ा; और मन की अनिश्चित अवस्था मे ही विना टिकट बम्बई की गाड़ी पर सवार हो गया।

बम्बई में पहुँच कर अनिल कई दिनों तक इधर-उधर घूमता रहा। उसकी अवस्था बिलकुल विक्षिप्तों की-सी हो गई थी। इधर दो-तीन दिनो से विक्टोरिया पार्क में बैठकर वह अपनी स्थितिपर विचार किया करता था। कभी वह सोचता, कि वह स्वयं ही अपने जीवनका सर्वान्त कर दे; और कभी जीवन को स्थिर रखने के लिये उसके मन में नौकरी करने का विचार भी उत्पन्न हो जाता। मृत्यु और जीवन के इसी संघर्ष मे जब अनिल को उस अधेड़ पुरुष की सहानुभूति उपलब्ध हुई तो सरलता से ही उसका हृदय उसके तारों में बँध गया।

जिस प्रकार उष्णता से व्याकुल व्यक्ति के हृदय मे शीतल हवा का किंचित मात्र सचालन भी जीवन की हिलोर उठा देता है, उसी प्रकार वेदना से विह्वल हृदय पर यदि कोई सहानुभूति का हल्का भी प्रलेप कर दे, तो हृदय उसके तारो में बँधे बिना नहीं रहता। यद्यपि उस अधेड़ पुरुष की वेश-भूषा अनिल के हृदय-पटल पर उसकी मानवता का कोई बहुत सुन्दर चित्र नही आँक रही थी, किन्तु जब उसने अनिल से सहानुभूति-पूर्ण शब्दो मे अपने घर चल कर रहने के लिये कहा; तब अनिल उसके साथ-साथ चल पड़ा। कह नही सकते कि उसके घर जाकर अनिल की हार्दिक वेदना में कुछ अभाव हुआ या नहीं; पर अनिल की जीवन-धारा अवश्य बदल गई। अनिल शराब पीने लगा; और जुवाड़ी भी बन गया। हो सकता है, कि अपने इस नवीन संसार में पहुँच कर अनिल अपने पुराने

संसार को भूल सका हो, और भूल सकी हो उसकी वह मानसिक वेदना, जो दिन-रात उसके हृदय में आग की भट्ठी की भाँति धधकती रहती थी।

[४]

अनिल जब अपने घर से बाहर निकला, तब उस समय तो चम्पा के हृदय पर उसका किंचित् भी प्रभाव न पड़ा, किन्तु जब कई दिनों के पश्चात् भी अनिल लौट कर घर न गया, तो चम्पा का कठोर हृदय धीरे-धीरे गलने लगा। अनिल के रहने पर भले ही उसका मूल्य चम्पा को ज्ञात न होता रहा हो, पर जब अनिल चला गया तब उसका गर्व, जो उसीतक सीमित था, ढह-सा गया। चम्पा के हृदयमे रह-रहकर पाश्चात्तापकी तरंगे उठने लगी। वह रह-रहकर सोचने लगी, कि उसने क्यों अनिल को घर से निकलने दिया ? जिस समय अनिल घर की ड्योढी लाँघ रहा था, उसने क्यो नहीं आगे बढ कर उसका हाथ पकड लिया ? उसने रमेश के सामने क्यो तमाचा लगाने वाली बात कही ?

पश्चात्ताप की तरगो मे बहते हुये चम्पा अपने और अनिल के जीवनके विविध चित्रोंको भी देखती। वह यह भी देखती, कि अस्थिचर्मावशिष्ट अनिल आवश्यकताओ की आग मे भस्म हो रहा है, और वह उसके लिये और भी अधिक आग की चिनगारियाँ बिखेर रही है। वह अपने उन दैनिक व्यवहारो को भी सोचती, जब परिश्रम कर अनिल घर मे आता, और वह उष्ण वायु की भाति उसके थके हुये मनके भीतर और भी अधिक आकुलता उत्पन्न कर देती। चम्पा अपने जीवन के पिछले चित्रों को देख-देख कर व्याकुल हो उठती; और उसकी आकुलता स्पष्टतः उसके नेत्रों मे भी झलक उठती। चम्पा पहले तो इस आशा मे थी, कि अनिल अवश्य दो-चार दिनों मे लौट कर

आ जायगा; किन्तु जब एक सप्ताह के पश्चात् भी कहीं अनिल का पता न लगा, तो उसकी आशा के तार टूट गये, और वह अधिक समाकुल हो उठी।

दोपहर का समय था। चम्पा अपने कमरे में चारपाई पर पड़ी थी। उसकी आँखे श्रावण के बादलों की भाँति भरी हुई थी। रह-रह कर उसकी भरी हुई आँखों के सामने वे चित्र आ रहे थे, जो चम्पा और अनिल के सम्मिलित जीवन से निर्मित हुये थे। बहुत सम्भव है, कि वे चित्र चम्पा की भरी हुई आँखों को सहला देते, और चम्पा की आँखें बरसने लगतीं, पर सहसा द्वार के कपाट की जंजीर खटकी, और चम्पा उत्कण्ठा पूर्वक चारपाईसे उठकर खड़ी हो गई। उसने कमरे से बाहर निकलकर देखा, रमेश किवाड़ खोलकर भीतर चला आ रहा है।

चम्पा को देखते ही रमेश के दोनों हाथ जुट गये और वह उसे नमस्ते करते हुआ बोल उठा, भाभी, ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद। अनिल बाबू का पता लग गया। वे बम्बई में हैं, पर....।

रमेश की आकृति पर उदासीनता दौड़ उठी। ऐसा लगा, जैसे वह आगे जो कुछ कहना चाहता है, उसके स्मरणमात्र से उसका हृदय समाकुल हो उठा। चम्पा ने नेत्रों में विस्मय भर कर रमेश की ओर देखा; और वह अधिक विस्मय के साथ ही रमेश की ओर देखती हुई बोल उठी, पर क्या भैया! कहो, चुप क्यों हो गये?

रमेश ने चम्पा की ओर देखा! चम्पा की आकृतिपर दुखकी काली घटा सी घिरी हुई थी। रमेश अपनी वाणी में सहानुभूति लपेट कर बोल उठा—मैं बम्बई गया था भाभी! अनिल बाबू का पता बडी कठिनाई से लगा। किन्तु जब मैंने उनसे घर लौट चलने के लिये कहा; तब उन्होंने अस्वीकार कर दिया।

अस्वीकार कर दिया!—रमेश की बात समाप्त होने के साथ ही साथ चम्पा के मुख से विस्मय पूर्वक निकल पड़ा।

हाँ भाभी!—रमेश ने चम्पा की ओर देख कर दुखपूर्ण स्वर में उत्तर दिया।

चम्पा कुछ देर तक मौन रही। रमेश ने चम्पा की इस मौन स्थिति में कई बार उसकी ओर देखा। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि चम्पा कुछ देर तक और मौन रहती, तो रमेश के अधर अपने आप ही खुल जाते, पर इसी बीच में चम्पा, विचारों में डूबी हुई, अपने आप बोल उठी, क्या तुम उनका पता जानते हो भैया!

मैं अनिल बाबू से मिल कर आया हूँ भाभी!—रमेश शीघ्र बोल उठा—उन्होंने एक मिल में नोकरी कर ली है!

तब तुम मुझे उनके पास पहुँचा दो भैया!—चम्पा ने आकुलता के स्वर में कहा—मुझे विश्वास है कि मैं उनके पास पहुँचकर उन्हें अवश्य लौटाल लाऊँगी!

जो तुम्हारी आज्ञा हो भाभी!—रमेश चम्पाकी ओर देखता हुआ शीघ्र बोल उठा।

चम्पा ने रमेश की उस दृष्टि को देखा! रमेश की दृष्टि में स्पष्टतः रहस्य का समुद्र सा लहरा रहा था। कह नहीं सकते, कि चम्पा ने उस समुद्र को भी देखा या नहीं, पर जब सन्ध्या हुई, और जब मानव से लेकर पक्षी तक अपने अपने घरों को लौटने के लिये समा-कुल हो रहे थे, तब चम्पा अपने घर को छोड़कर रमेश के साथ बम्बई की ओर ट्रेन पर भागी जा रही थी!

× × × ×

रात्रि के आठ-नौ बज रहे थे। बम्बई की एक सघन गली में एक कमरे में बैठ कर कुछ लोग कौड़ियाँ खनका रहे थे। कमरे में एक ओर टेबुल पर कई बोतलें और कुछ प्यालियाँ रक्खी हुई थीं। कदाचित उसमें शराब थी जो जुए की सहचरी समझी जाती है। यद्यपि कमरे के आसपास चारों ओर स्तब्धता का राज्य था, पर कमरे में कौड़ियां

की खनखनाहट के साथ साथ द्यूत क्रीड़ा की सुस्वरित परम्परा भी अपना अस्तित्व स्थापित किये हुये थी।

सहसा एक व्यक्ति कमरे के द्वार पर आकर उपस्थित हुआ, जिसके पीछे एक स्त्री खड़ी थी, जो बुर्का ओढ़े हुये थी। उस व्यक्ति ने जुआड़ियों में से एक को अपनी ओर आकर्षित करते हुये कहा – बाबू जी!

. हाँ जी!—जुवाड़ियों में से एक व्यक्ति द्वार की ओर देखते हुये बोल उठा—ओ! अच्छा, भीतर ले चलो, मै अभी आता हूँ।

शेष जुवाड़ियों की दृष्टि भी द्वार की ओर आकर्षित हो उठी, और व्यंग्य के स्वर में विभिन्न अर्थवाली विभिन्न वाणियाँ फूट पड़ीं। वह व्यक्ति जो उस कमरे का मालिक-सा ज्ञात हो रहा था, हाथ में आई हुई कौड़ीको भूमि पर रखते हुये बोल उठा—अच्छा भाई अब बन्द करो।

जुवाड़ियों के अधर फिर खुल पड़े और फिर वही विभिन्न अर्थोंवाली व्यंग्य-वाणियाँ! पर उस व्यक्ति ने किसी की बात की ओर ध्यान न दिया। वह कौड़ी भूमि पर रखकर उठा और बोतल से शराब उँडेलकर पीने लगा। उसके उठने पर दूसरे जुवाड़ियों ने भी उठ कर उसीका अनुगमन किया। सब तो शराब पी पीकर गली की स्तब्धता में समाविष्ट हो गये, रह गया केवल वही एकाकी। उसने दूसरी बार फिर प्याले में शराब उँडेलकर पी। फिर उसने दीवाल में लगे हुये दर्पण के सम्मुख खड़े होकर अपना मुँह देखा और फिर बाहरी द्वार का कपाट बन्द कर सीढियों से होता हुआ घर के उस स्थान में पहुँचा, जहाँ एक व्यक्ति एक स्त्री के साथ, जिसकी आकृति पर बुर्का पड़ा हुआ था, उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। उसे देखते ही वह व्यक्ति उठकर खड़ा हो गया। उसने संकेत करके अलग उसे अपने पास बुलाकर उसके कानों में कुछ कहा। वह स्त्री को वहीं उसके पास छोड़कर सीढ़ियों से नीचे चला गया।

स्त्री चुपचाप बुर्का ओढ़कर बैठी हुई थी। ऐसा लगता था, मानों

उसके शरीर के अंगों से क्रियाशीलता सम्पूर्ण रूप से निकल गई हो। उस व्यक्ति ने उसके समीप जाकर अपने हाथों से उसका बुर्का उठा दिया। बुर्का उठाने के साथ ही वह दो पग पीछे हटता हुआ विस्मय पूर्वक बोल उठा—तुम ! चम्पा !!

स्त्रीने चकित होकर उस व्यक्ति की ओर देखा; और देखने के साथ ही उसके भी मुख से विस्मय पूर्वक निकल पड़ा—मेरे स्वामी !

पाठक, क्या आप जानते है, कि वह व्यक्ति कौन था; और कौन थी, वह स्त्री ! वह व्यक्ति था, अनिल और वह स्त्री थी, उसकी पत्नी चम्पा। अनिल जब उस व्यक्ति के साथ जाकर रहने लगा, तब उसके संपर्क में पड़कर वह जुआड़ी और शराबी बन गया। उसने जुए में बहुत से रुपये जीते। जब उसके पास रुपये हो गये, तो वह अलग मकान लेकर वीभत्स जीवन व्यतीत करने लगा। इधर रमेश, जिसके हृदय में पहले से ही चम्पा के प्रति लोलुपता की आँधी दौड़ रही थी, अवसर पाकर उसे बहकाकर बम्बई ले गया। पहले तो रमेश की बातो पर चम्पा को किंचित मात्र भी अविश्वास न हुआ, किन्तु बम्बई पहुँचने पर शीघ्र ही रमेश के षडयंत्र का जाल छिन्न-भिन्न हो उठा, और उसकी ऑखो के सामने वास्तविक चित्र नाच उठा। चम्पा अवसर पाकर रमेश के हाथो से निकल भागी, किन्तु फिर कुछ कूट चक्रियो के हाथो मे आग्रस्त हो गई; और वे रुपये के लोभवश उस अनिल के पास ले गये; जो जुए मे रुपये जीतकर दोनों हाथो से उसे विलास की आग मे झोक रहा था।

अनिल कुछ देर तक बड़े ध्यान से चम्पा की ओर देखता रहा। फिर नेत्रों मे दुख की परछाई नचाकर बोल उठा—क्या नई साड़ी की खोज में निकली हो चम्पा !

और इसके साथ ही अनिल की त्योरियाँ चढ गईं, किन्तु जब तक उसके भीतर की आग बाहर निकले, चम्पा दौड़कर उसके चरणों पर

गिर पड़ी, और पीड़ा भरे स्वर में बोल उठी—क्षमा करो नाथ!

अनिल गंभीर होकर सोचने लगा। इसी समय उसे ऐसा लगा, मानों उसके पगके ऊपर कुछ गरम-गरम गिर रहा है। अनिल ने जब अपने पैर की ओर देखा, तो उसका पैर आँसू से अभिसिंचित हो उठा था; और आँसू की बूँदें पैर पर न समाकर टपक-टपक कर भूमि पर गिर रही थी। अनिल के दोनों हाथ चम्पा की ओर बढ गये; और वह चम्पा को उठाता हुआ बोल उठा—उठो मेरी रानी, तुम्हारी कहानी सुनने के लिये मेरा हृदय आकुल हो रहा है।

कह नहीं सकते, कि चम्पा की कहानी सुनने के पश्चात् अनिल के हृदय में किस प्रकार के भाव उठे, पर अनिल और चम्पा फिर दाम्पत्य जीवन के मार्ग पर चलने लगे। दोनों का वह संसार! उसपर पारस्परिक प्रेम के पराग बरसा करते थे।

विमाता का हृदय
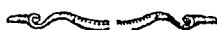
दीपक की ज्योति शनैः शनैः धूमिल हो रही थी।

सचमुच वह दीपक की ज्योति ही के सदृश थी! उस से मुकुल का जीवन-संसार आलोकित तो रहता ही था; उसका अन्तर्जगत भी शक्ति और प्राण का अनुभव करता था। उसका नाम भी तो ज्योतिष्मती था। वह ज्योतिष्मती की ही भाँति मुकुल की रग-रग में ज्योति संचार किया करती थी। यद्यपि वह वाह्य ससार में आकर किसी काम मे मुकुल का हाथ न बँटाती, पर उसके द्वारा मुकुल के प्राण को जो ज्योति मिल रही थी, उसके सहारे मुकुल बड़े से बड़े काम मे हाथ डाल देता! निराशा का मरुस्थल सामने पड़ा होता, आपत्तियों की झाडियाँ अपने तीव्र नखों को उठाकर हृदय नोचने के लिये खड़ी होती, पर मुकुल आँधी की भाँति मरुस्थल मे भी दौड जाता, और झाड़ियों मे भी घुस जाता! मरुस्थल मे भी उसके अधरों पर हास्य, और झाँड़ियो मे भी उसके नेत्रों मे उन्माद की लालिमा! मुकुल के जीवन का हास्य; और उसके नेत्रों की लालिमा! वही उसकी पत्नी ज्योतिष्मती थी; जो उसके अन्तर और वाह्य जगत में ज्योति वन कर सचरण किया करती थी।

ज्योतिष्मती इधर कई महीने से बीमार थी। पहले तो मुकुल ने समझा था, कि वह रोग की हलकी थपकियाँ खाकर उठ बैठेगी, किन्तु जब दो-तीन सप्ताह के पश्चात् भी उसकी अवस्था में कुछ परिवर्तन होता हुआ दृष्टि गोचर न हुआ, तब मुकुल के मन के भीतर चिन्ता और व्याकुलता की आँधी दौड़ने लगी। मुकुलके पास पैसो का अभाव न था। वह ज्योतिष्मतीकी जीवन-ज्योति के लिये दोनों हाथो से पैसा

उलीचने लगा। वह अपना काम काज छोड़कर दिन-रात ज्योतिष्मती के समीप बैठा रहता; और उसकी उस ज्योति की ओर टकटकी लगा कर देखा करता, जो निर्वाण प्राप्त करने के पूर्व, योगी के हृदय की भाँति, सांसारिक वैभवों से अपना संबंध तोड़ रही थी।

सन्ध्या का समय था। प्रकृति के भाल पर सूर्य्य स्त्री की बेंदी की भाँति चमक रहा था। कुछ ही देर के पश्चात् नगर के सभी घरों में दीपक जलने वाले थे, पर ज्योतिष्मती की जीवन-ज्योति बुझने के लिये झिलमिला रही थी। मुकुल आँखों में नैराश्य भर कर उस झिल-मिलाती हुई ज्योति को टकटकी लगा कर देख रहा था। उसी प्रकार, जिस प्रकार पतिंगा बुझने वाले प्रकाश की ओर दुख भरे नेत्रों से देखा करता है।

प्रकाश भीतर ही भीतर धूम्र का संचय कर रहा था; पर वह अभी बुझा न था। बुझने के पूर्व वह एक बार जोर से झिलमिला उठा, और उसकी मलिनता के ऊपर अरुणिमा की एक तरंग-सी दौड़ उठी। मुकुल जो उसकी ओर टकटकी लगाकर देख रहा था, विस्मित होकर बोल उठा—क्या है ज्योति ?

कुछ तो नहीं !—ज्योतिष्मती ने अपनी उज्वल आँखों से मुकुल की ओर देखते हुये मन्द स्वर में उत्तर दिया।

ज्योतिष्मती की वे उज्वल आँखें ! स्पष्टतः जीवित श्यामता उनके भीतर से प्रस्थान कर चुकी थी; और जो कुछ अवशेष थी; वह भी नदी के कगार की भाँति शनैः शनैः कटती जा रही थी। मुकुल का हृदय आशंका से पत्ते की भाँति काँप उठा। उसने ध्यान से एक बार ज्योतिष्मती की उस आकृति की ओर देखा, जो शनैः शनैः रंग-हीन उज्वलता के आवरण से ढँकती जा रही थी। मुकुल अपना दाहिना हाथ ज्योतिष्मती की छाती पर रख कर उसकी साँस की धड़कन [illegible] लगा, और देखते ही देखते बोल उठा—ज्योतिष्मती !

ज्योतिष्मती ने पुनः मुकुल की ओर देखा; और देख कर जैसे वह अधिक गंभीर-सी बन गई। वह कुछ देर तक अपनी उसी अवस्था मे मौन रही, फिर मुकुल की ओर देखती हुई बोल उठी—क्या देख रहे है, सॉसे। ऑधी की भॉति चल रही है न। शान्ति की चिर निद्रा मे सोने के पूर्व इसी प्रकार सॉसे ऑधी बन जाती है! वेचारी टूटने के पूर्व विद्रोह की भावना से पूर्ण हो उठती है; किन्तु कदाचित् वे यह नही जानती, कि वे जिसके प्रति विद्रोह कर रही है, वह सभी विद्रोहों का सम्राट है।

कहते कहते ज्योतिष्मती का स्वर अधिक मन्द पड़ गया; और वह मौन हो गई। ऐसा लगा, जैसे उसका वाणी-बन्धन ढीला पड़ता जा रहा हो। मुकुल उसकी ओर देखता हुआ शीघ्र बोल उठा—यह तुम क्या कह रही हो ज्योति? अधिक न बोलो! तुम अधिक कमजोर हो गई हो।

हॉ, अब न बोलूॅगी।—ज्योतिष्मती मुकुल की ओर देखती हुई पुनः बोल उठी—आप ही नही, कोई और भी न बोलने के लिये मुझसे कह रहा है। पर

ज्योतिष्मती मौन हो गई। जैसे वह कुछ सोचने लगी हो। मुकुल उसकी विचार—मुद्रा को लक्ष्य करके दुख पूर्ण स्वर में शीघ्र बोल उठा—कहो कहो, ज्योति, चुप क्यो हो गई?

हॉ कहूॅगी, अवश्य कहूॅगी।—ज्योतिष्मती कुछ आवेग में आकर बोल उठी—विना कहे चुप न हूॅगी, कभी न चुप हूॅगी! किरण कहॉ है?

वह तुम्हारे सामने ही तो खड़ी है!—मुकुल बोल उठा।

ज्योतिष्मती ने दूसरी ओर दृष्टि घुमा कर देखा। दस ग्यारह वर्ष का वय, गोर वर्ण, सुन्दर सॉचे मे ढली हुई-सी आकृति और आकृति पर भोलेपन का समुद्र। तारिका की भॉति झिलमिलाती हुई विस्मित दृष्टि से ज्योतिष्मती की ओर देख रही थी। ज्योतिष्मती कुछ

देर तक उसकी ओर देखती रही, फिर संकेत से उसे अपने समीप बुला कर उसका मुख चूमने के लिये अपना सिर उठाया, और साथ ही अधरों के संपुट भी खुल गये—यह मेरी किरण.. इसे..

पर सिर आधा ही उठकर फिर नीचे झुक गया, और अधर आधी बात कह करके ही फिर बन्द हो गये। किरण ज्योतिष्मती के अधरों पर अपना कपोल रखकर चीत्कार कर उठी—माँ!

पर अब माँ कहाँ थी? ज्योति बुझ गई थी; और उससे अब धुँआ फूट रहा था। पर मुकुल अब भी टकटकी लगाकर उस धुँये की ओर देख रहा था! कदाचित् धुँये के बीच से कहीं ज्योति दृष्टि गोचर हो जाय!

[२]

मानव-जीवन बहता हुआ पानी है। जिस प्रकार जल के प्रवाह को किसी स्थान से मोह नहीं होता, वही हाल मानव जीवन का है। कहने को मानव जीवन में मोह होता है; आसक्ति होती है; पर वास्तव मे देखा जाय तो मानव जीवन का मोह और उसकी आसक्ति, ठीक जल-प्रवाह की ही भाँति, आवश्यकता के धरातल पर फिसलती हुई चलती है। मुकुल का मोह भी ऐसा ही था। ज्योतिष्मती के मर जाने पर कुछ दिनों तक तो उसका मोह मुकुल के हृदय को अपने बन्धन में जकड़े हुये रहा; पर ज्यों ज्यों समय अपने चक्र पर घूमने लगा, त्यों त्यों मुकुल के मोह का बन्धन भी ढीला होने लगा, और कुछ दिनों में इतना ढीला हो गया, कि वह मुक्त-सा हो गया।

अब केवल मुकुल के हृदय में ज्योतिष्मती की स्मृति-मात्र अवशेष रह गई थी। ज्योतिष्मती की बीमारी के दिनों में प्रायः मुकुल यह सोच कर विकम्पित हो उठता था, कि यदि कहीं ज्योतिष्मती के जीवन-तार टूट गये, तो फिर वह अपने जीवन के तारों को कैसे स्थिर रख सकेगा; पर कदाचित् मुकुल को यह ज्ञात नहीं था, कि

संसार अपने समय के तीव्र क्षार-पदार्थ से न जाने कितनों के हृदयो की स्मृतियों को साफ करके बैठा हुआ है। समय ने मुकुल के हृदय को भी धोकर साफ कर दिया; और अब केवल कभी-कभी ही ज्योतिष्मती की स्मृति तारिका की भाँति उसके जीवन-गगन पर झलक उठती थी।

आश्चर्य नही, वह स्मृति भी संसार के कार्यों के घटाटोप से ढॅक जाय! मुकुल को अब ज्योतिष्मती की स्मृति आकुल न करती। ज्योतिष्मती की मृत्यु के पश्चात् वह जहाँ उसकी स्मृति की शराब पीकर व्याकुल बना फिरता था, वहाँ अब एकान्तता उसके मन के भीतर आकुलता का तूफान उठाने लगी। वह दिन भर काम-काज करने के पश्चात् जब अपने घर मे पैर रखता, तव एकान्तता उसे खलती, और उसका हृदय भीतर ही भीतर कुछ अनुभव करता। पहले कुछ दिनों तक तो मुकुल किरण से इधर-उधर की बाते करके अपने हृदय के उस अभाव को टालने का प्रयत्न करता रहा, पर जब अभाव अन्तर मे अधिक प्रवेश कर गया; तव स्पष्टतः उसके हृदय-पटल-पर नारी के लिये आकाक्षाओं के विभिन्न चित्र बनने लगे! यद्यपि अभी वे चित्र भीतर ही भीतर बन कर मिट जाते थे; पर उनकी रेखा तो धीरे-धीरे अधिक प्रगाढ ही होती जा रही थी।

मुकुल अभी प्रौढ था; और उसके पास धन का भी अभाव न था! उसकी विभिन्न नगरोंमे कई आढते चल रही थी। हमारे समाजमे जिसके पास धन हो, चाहे वह चिता का चुम्बन करने के लिये उसकी ओर अपना मुखही क्यो न बढ़ा रहा हो; पर उसके लिये कुमारी कन्याओ की कमी नही रहती! मुकुल तो अभी प्रौढ था। ज्योतिष्मती के मरने के साथ ही, उसके समाज मे उसके विवाह की बात चीत आने लगी; पर मुकुल कुछ दिनों तक तो उसे टालता रहा! कह नही सकते, ज्योतिष्मती की स्मृति के कारण, या समाज की भर्त्सना के

कारण, पर कुछ दिनों के पश्चात् ही जब अभाव की पीड़ा काटने लगी, तब सैकड़ो 'हाँ' और 'ना' के झूले पर झूल कर मुकुल ने अपना दूसरा विवाह कर लिया, और ज्योतिष्मती का चित्र उसके हृदय-पटल से धुल गया, बिलकुल धुल गया !

पहले जहाँ मुकुल का हृदय गगन में ज्योतिष्मती तारिका की भाँति झिलमिलाया करती थी, वहाँ अब झिलमिलाने लगी अनुराधा। पहले जहाँ मुकुल की तन्मयता ज्योतिष्मती में थी, वहाँ अब तन्मय रहने लगा वह अनुराधा में। अनुराधा की तन्मयता में किरण की चिन्ता भी उसके हृदय में शनैः शनैः धूमिल होने लगी। पहले जब वह अपनी दूकान से लौटकर आता, तो किरण से बातचीत करके अपने हृदय का भार हलका किया करता था। पर अब किरण उसके हृदय-सिंहासन से नीचे खिसक गई। अब उसे किरण का बहुत कम ध्यान रहता। अब वह अपना समय अनुराधा के ही साथ व्यतीत करता, और जब किरण उसमे बाधा पहुँचाती, तो मुकुल को तो कम अप्रसन्नता होती, किन्तु अनुराधा का हृदय कोप की आग से जल-भुन उठता; और कभी-कभी वह इसी के लिये किरण को झिड़क भी दिया करती थी।

मानव हृदय बड़ा अद्भुत होता है। कहने को वह सचेतन होता है, पर उसके प्रेम और उसके त्याग में स्वार्थ की जो दुर्गन्ध आती है, उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है, कि जिन्हें हम जड़ और अज्ञान कहते है, उससे वे अच्छे होते हैं। मानव हृदय का सारा प्रेम और सारा त्याग केवल स्वार्थ ही के निमित्त होता है। अनुराधा ने जब मुकुल के जीवन-संसार में प्रवेश करके देखा, कि उसके किसी भी स्वार्थ का संबंध किरण से नही है, तब वह किरण के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करने लगी। कभी-कभी वह किरण को डाँट भी देती। इतना ही नहीं, कभी-कभी वह उसे दो-एक चपत भी लगा दिया करती थी। शनैः शनैः अनुराधा की उपेक्षा इतनी बढ़ गई, कि वह

अब बात-बात में किरण को झिड़कने लगी। जहाँ उससे कोई तनिक भूल हुई नहीं, कि अनुराधा बादल की तरह उसपर गरज उठती थी। किरण ने पहले अनुराधा की झिड़कियों को बड़े विस्मय के साथ सुना, किन्तु फिर विस्मय ने करुणा का स्वरूप धारण कर लिया, और जब विस्मय ने करुणा का स्वरूप धारण कर लिया, तब किरण की आँखों में आँसू छलक उठने लगे। अनुराधा अब जब कभी किरण को झिड़कती, तो किरण चुपचाप एक कमरे मे जाकर रो लिया करती थी। मुकुल भी किरण की मूक आँखों के आँसुओं को देखता, किन्तु वह मौन ही रहता। ऐसा नहीं, कि उसके हृदय को दुख न होता, पर जो कुछ दुख होता, वह अनुराधा की तन्मयता में डूब जाता, और किरण की आँसुओं से भरी हुई आँखे भरी ही रह जाती।

किरण स्कूल मे पढ रही थी। पर जब अनुराधा आई; और उसका मुकुल के हृदय पर राज्य स्थापित हो गया, तब उसने मुकुल से कहकर उसका पढना-लिखना भी बन्द करा दिया। अब किरण घरमें ही रहती; और अनुराधा की आज्ञा-पालन में ही अपना समय व्यतीत करती। यद्यपि मुकुल के घरमें नौकर-चाकरों का अभाव न था, पर अनुराधा घर का बहुत सा काम किरण से ही लेती; और बहाना यह करती, कि किरण को दूसरे के घर जाना है, इसलिये उसे घर का काम काज सीखना ही चाहिये।

किरण जब कभी किसी कारण वश किसी काम को करने में उदासीनता प्रगट करती, तो अनुराधा झट कर्कश स्वर मे गरजती हुई कह उठती, 'जान पड़ता है, मुखमें कालिख लगाओगी। आखिर लोग यही कहेंगे, कि माँ नही थी, इसलिये लड़की बिना काम-काज सीखे हुये ही रह गई।' अनुराधा केवल कर्कश स्वर में गरज करके ही शान्त न रह जाती, बल्कि वह इसके लिये किरण को दंडित भी किया करती थी। मुकुल जब कभी अनुराधा को किरण को दंडित करने से

रोकता, तो अनुराधा बोलती तो कुछ न, किन्तु आँसू अवश्य बहाने लगती; और मुकुल से बातचीत करना ही बन्द कर देती। मुकुल के लिये यह एक बहुत बड़ी समस्या हो जाती; और इसे सुलझाने में वह अपने भीतर एक विचित्र व्याकुलता का अनुभव करता। अतः वह इस समस्या को अपने सामने आने ही न देता। अनुराधा जो कुछ किरण के साथ करती, करती, पर मुकुल कुछ न बोलता। मुकुल की इस मौनिमा से अनुराधा की आँधी दिनों दिन तीव्र ही होती गई, और तीव्र होता गया किरण की आँखों का उफान !

[३]

जाड़े के दिन थे। पानी धीरे-धीरे बरस रहा था। हवा यद्यपि मन्द-मन्द गति से चल रही थी, पर जब वह शरीर में लगती थी, तो ऐसा ज्ञात होता था मानों प्राणों पर हिम बरस रहा हो। अनुराधा ने अँगीठी के पास से उठ कर घड़ी की ओर देखा ! घड़ी में सन्ध्या के छः बज रहे थे। अनुराधा अपने आप ही बोल उठी, छः बज गये, और महरिनि अभी तक नहीं आई। जान पड़ता है, आज उपवास ही करना पड़ेगा।

अनुराधा की बात कमरे की दिवालों से टकरा कर कमरे में ही गूँज गई। वह कुछ देर तक खड़ी-खड़ी सोचती रही, फिर बोल उठी—किरण !

क्या है माँ !—समीप के एक कमरे से किरण बोल उठी।

पर अनुराधा ने उसके प्रश्न का कोई उत्तर न दिया। कदाचित् इस आशा से, कि किरण जब उसके पास आजाय, तब वह यह कहेगी कि उसे बुलाने का उसका क्या अभिप्राय है। पर जब कुछ देर की प्रतीक्षा के पश्चात् भी किरण न आई; तब अनुराधा पुनः कर्कश स्वर में बोल उठी—किरण सुनती नहीं, क्या बहरी हो गई है ?

किरनने कभी अनुराधा की किसी बात का उलंघन नही किया। अनुराधा जब जो कुछ कहती, किरण उसे पूरा करने के लिये सदैव उद्यत रहती थी। किन्तु आज किरण को कुछ शीत लग गया था, और उसके कारण उसका शरीर भी कुछ गरम हो गया था। अतःवह अपनी चारपाई पर से ही पुनः बोल उठी—क्या है माँ!

क्या है माँ, क्या है माँ!—अनुराधा कर्कश स्वरमे बोल उठी—मै कब से यहाँ चीख रही हूँ, और रानी जी चारपाई पर पड़ी पड़ी कह रही है, कि क्या है माँ, क्या है माँ! अरे आज महरिनि नहीं आई। यह जूठा बर्तन कैसे साफ होगा ?

किरण ने अनुराधा के एक एक शब्द को सुना! यद्यपि अनुराधा के प्रत्येक शब्द ऐसे थे, जिनसे किसी भी सजीव प्राणी के हृदय मे पीड़ा की तरंग उद्भूत हो सकती थी, पर किरण के हृदय में कुछ भी उद्भूत न हुआ। जैसे उसके हृदय के वे पिण्ड जो चेतना, ज्ञान, और अनुभव उत्पन्न करते है, मसल कर निर्जीव बन गये हो! किरण चुपचाप अपनी चारपाई पर ही पडी रही, और अपने स्वाभाविक, किन्तु बहुत ही मन्द स्वर मे बोल उठी—आज मेरी तबियत खराब है माँ!

तबियत खराब है!—किरण की बात समाप्त होनेके साथ ही साथ अनुराधा बोल उठी—खाने के लिए तो तबियत खराब नही रहती! जब काम करने को होता है तब तबीयत खराब हो जाती है। मै क्या टहलनी हूँ, जो सबके लिये दिन भर मरा करूँ!

यह मै कब कहती हूँ माँ!—किरण मन्द स्वर मे बोल उठी—मुझ से जो कुछ होसकता है, मै करती ही हूँ। आज मेरी सचमुच तबियत खराब है, नहीं तो मै उठकर बरतन साफ कर देती!

यद्यपि किरण की बात का ऐसा कोई शब्द नही था जो वायु बन कर क्रोध की आग को भडका सकता, पर जिसके हृदय में किसी के

लिये निरन्तर द्वेष और ईर्षा की आग जला करती है, उसके लिये यह आवश्यक नहीं कि उसके भीतर की आग को भड़काने के लिये किसी ओर से भी तीव्र हवा चले। अनुराधा के हृदय में किरण के प्रति ईर्षा और द्वेष की आग थी ही, किरण के प्रत्युत्तर से वह और भी अधिक जल-भुन उठी, और कर्कश स्वर में गरजती हुई बोल उठी—अच्छा, आज की लड़की और मेरे साथ सवाल-जवाब करने चली है। मैं देखती हूँ, कि तू बरतन कैसे नहीं साफ करती।

अनुराधा अपनी बात समाप्त करती हुई किरण के कमरे में जा पहुँची। किरण अपने ऊपर चद्दर डाल कर, सिकुड़ी हुई, चारपाई पर पड़ी थी। अनुराधा ने उसके समीप पहुँच कर उसका हाथ पकड़ लिया, और उसे चारपाई से खींचते हुये वह कर्कश स्वर में बोल उठी—चल बरतन साफ कर! नहीं तो चमड़ी उधेड़ लूँगी।

किरण ने अनुराधा की आकृति की ओर देखा। स्पष्टतः उसकी आकृति पर निर्दयता बरस रही थी। किरण उसकी आकृति की ओर देखती ही देखती बोल उठी, छोड़ दो माँ! हाथ पकड़ कर घसीटो न! मैं उठ कर बर्तन साफ किये देती हूँ।

अनुराधा ने किरण का हाथ तो छोड़ दिया, पर उसका मुख बन्द न हुआ। वह किरण पर व्यंग्य-वर्षा करती हुई अपने कमरे की ओर चली गई। उसने किरण की ओर अब दृष्टिपात तक न किया। किरण जब अपनी चारपाई से उठकर खड़ी हुई, तो उसकी आँखे भरी हुई थी? वह सामने ही बगल में लगे हुये अपनी माँ, ज्योतिष्मती के चित्र के सम्मुख जाकर खड़ी हो गई। वह कुछ देर तक, वहाँ खड़ी-खड़ी अपनी भरी हुई अँखड़ियाँ अपनी माँ के चरणों पर बिखेरती रही; फिर इस भय से, कि कहीं अनुराधा पुनः हाथ पकड़ कर घसीटने के लिये न आ जाय; वह चौके में जाकर बर्तन इकट्ठे करने लगी!

पानी बरस रहा था; और हवा शरीर में ऐसी लग रही थी मानों;

तार हो। किरण बरसते हुये पानी में बैठकर बरतन मल रही थी। जिस तरह वायु के चलने के कारण वृक्षों के पत्ते काँप रहे थे; उसी प्रकार किरण के भीतर का प्राण भी काँप रहा था। पर किरण के हाथ बरतन पर चलते ही जा रहे थे। मुख मुरझाया हुआ, और आँखों में करुणा नृत्य कर रही थी। उसके ऊपर जो बूँदें पड़ रही थीं, वे ऐसी ज्ञात हो रही थीं, मानो मूक बादल चीख-चीख करके उसकी दशा पर आँसू बहा रहा हो! बादलों की भाँति ही, सहसा किरण के मुँह से एक चीख निकल पड़ी, और वह दोनों हाथों से अपना हृदय पकड़ कर, उसी जगह, भूमि पर गिर पड़ी!

अनुराधा ने भी किरण की चीख सुनी, और जब उसने झाँक कर देखा, तो पानी बरस रहा था; और किरण उसी बरसते हुये पानी में भीगती हुई पड़ी थी। अनुराधा झट तीव्र स्वर में बोल उठी—यह सब विद्या मैं भली भाँति जानती हूँ। मेरे सामने यह एक भी न चलेगा। बरतन मल लो तो, चाहे चीखो, चाहे चिल्लाओ!

पर किरण ने अनुराधा की बात का कुछ उत्तर न दिया। अनुराधा अपनी बात समाप्त करती हुई पुनः अपने कमरे के भीतर चली गई। अभी उसे कमरे मे गये हुये कुछ ही क्षण बीते थे, कि मुकुल आ गया। घरमे प्रवेश करते हुये मुकुल की दृष्टि किरण पर पड़ी, जो आँगन मे पनाले के पास लथ-पथ भूमि पर पड़ी हुई थी। मुकुल ने पानी से बचने के उद्देश्य से छाया मे खड़े होकर पुकारा—किरण!

एक बार, दो बार, तीन बार, पर किरण के मुख से स्वर न निकला, मुकुल का हृदय आशंका से काँप उठा। वह हाथ का छाता फेंक कर किरण के पास जा पहुँचा। देखता है तो किरण मूर्च्छना की गोद मे सो रही थी, और उसका हृदय जैसे भाथी बना हुआ हो। मुकुल झट किरण को दोनों

बाहुओं के सहारे उठा कर कमरे में ले गया; और उसे सूखा वस्त्र पहना कर पलॅग पर लिटा दिया।

कुछ क्षणों के पश्चात् किरण की मूर्छा तो भंग हो गई, किन्तु उसका शरीर आग की भॉति जलने लगा! उसने ऑखे खोल कर मुकुल की ओर देखा। उसकी ऑखों में करुणा और वेदना नृत्य कर रही थी। वह करुणा की मूक प्रतिमा—सी मन्द स्वर में बोल उठी—बाबू मुझे उठा कर ले चलिये! अभी बरतन साफ करने को पड़ा है।

नहीं बेटी, तुम आराम करो!—मुकुल बोल उठा—बरतन साफ हो जायॅगे।

नही बाबू, माता जी क्रोध करेगी!—किरण पुनः बोल उठी—मै बरतन न साफ करूॅगी बाबू, तो मुझे खाना न मिलेगा। मुझे उठा कर ऑगन में ले चलिये; ले चलिये बाबू!

मुकुल की ऑखे भर आई; और जब बूॅदे ऑखो में नही रुकीं, तो नीचे ढुलकने लगी। किरण पुनः मन्द स्वर में बोल उठी—आप रो रहे हैं बाबू! क्यों? मेरे लिये, नही नही, मुझे कोई कष्ट नहीं है। वह मेरी मॉ! वह भी आपही की तरह रो रही है बाबू! मैं उसके पास जाऊॅगी, मुझे जाने दीजिये; जाने दीजिये!!

किरण ने चारपाई से उठने का प्रयत्न किया; पर वह चारपाई पर गिर पड़ी, और ऐसा ज्ञात हुआ, मानों अब उठेगी ही नही! मुकुल दौड़कर डाक्टर को बुला लाया। डाक्टर ने भली भॉति परीक्षा करके कहा—हालत बहुत बुरी है; पर मै प्रयत्न करूॅगा।

डाक्टर की बात मुकुल और अनुराधा, दोनों ने ही सुनी। मुकुल का हृदय तो पत्ते की भॉति कॉप उठा, किन्तु अनुराधा के हृदय पर भी कुछ प्रभाव पड़ा, या नहीं, यह तो कोई मर्म-भेदी ही जान सकता है।

[४]

प्रभात हो चुका था। वालारुण प्राची के झरोखे से झाँककर अपनी किरणों के द्वारा कमलिनी के हृदय मे गुदगुदी उत्पन्न कर रहा था। बाहर-भीतर, सर्वत्र सजीवता की एक नवीन लहर सी दौड़ पड़ी थी। किरण, उस नवीनता की तरंग मे भी शोकित, उदास, चारपाई पर पड़ी थी। रात उसने जागकर कठिनाई से व्यतीत की थी। किन्तु प्रभात होने के पूर्व उसकी आँखे कुछ झपक गई थीं; और मुकुल, जो रातभर उसके साथ जागता रहा था, वह भी चारपाई पर लेटकर झँपकियाँ ले रहा था।

सहसा किरण की आँखे खुल गईं, और वह कराहती हुई बोल उठी—बाबू!

क्या है बेटी!—मुकुल कहता हुआ चारपाई पर उठ बैठा।

और उठकर शीघ्र किरण के समीप जा पहुँचा। उसने किरण के मस्तक पर हाथ रक्खा। किरण का मस्तक जल तो रहा था, पर पहले से कुछ कम था। किरण ने एक वार मुकुल की ओर देखा; और उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर खीचते हुये कहा—बैठो बाबू!

मुकुल ने किरण की चारपाई पर बैठने के लिये अपना एक पैर उठाया ही था, कि नौकर कमरे के द्वार पर आकर बोल उठा—बाबू, तार का चपरासी है।

मुकुल ने बाहर जाकर तार लिया, और उसे पढता हुआ वह पुनः किरण की चारपाई के पास आकर खड़ा हो गया। उसकी आकृति पर गंभीरता-सी नाच रही थी। ऐसा लगता था, मानों तार के समाचार से वह किसी गंभीर विचार-चिन्ता में मग्न हो उठा हो! अनुराधा, जो नौकर के मुख से यह सुन चुकी थी, कि कहीं से तार आया है, मुकुल के पास जाकर बोल उठी—किसका तार है?

बम्बई से आया है—मुकुल चिन्ता के साथ बोल उठा—यदि बम्बई शीघ्र नहीं जाता तो हजारों पर पानी फिर जायँगे।

मुकुल ने अपनी बात समाप्त करके किरण की ओर देखा; और उसकी आकृतिपर गहरी उदासी-सी नाच उठी। अनुराधा, जो खड़ी-खड़ी मुकुल की आकृति की ओर देख रही थी, तुरन्त बोल उठी—तो दोपहर की गाड़ी से चले न जाइये।

हाँ, चला तो जाऊँ!—मुकुल गंभीरता के साथ बोल उठा—पर किरण की हालत जो बहुत खराब है!

मुकुल ने फिर किरण की ओर देखा। किरण आँखों में करुणा भरकर मुकुल की ही ओर देख रही थी। वह यद्यपि मौन थी, पर उसकी सकरुण आँखें साफ-साफ कुछ कह रही थी। मुकुल कभी किरण की उन आँखों की ओर देखता और कभी उस तार की ओर। अनुराधा का ध्यान तो किरण की ओर नही था, पर वह बड़े ध्यान से मुकुल की आकृति की ओर देख रही थी। मुकुल को असमंजस में पड़ा हुआ देख कर वह बोल उठी—किरण बीमार है तो काम-काज भी तो देखना है, और फिर आज उसकी तबीयत भी तो अच्छी है।

मुकुल ने कुछ उत्तर न दिया। वह केवल किरण की ओर एक दृष्टि देखकर नीचे चला गया। यद्यपि मुकुल किरण को छोड़ कर जाना नही चाहता था, पर अनुराधा को कदापि यह स्वीकार न था कि उसके हजारों रुपये मिट्टी में मिल जायँ। अतः वह मुकुल को बम्बई भेजने के लिये अपने नारी हृदय के प्रत्येक तर्क का उपयोग करने लगी। अनुराधा के तर्कों ने मुकुल के हृदय के द्वैविध्य को धोकर स्वच्छ कर दिया और, और वह बम्बई जानेके लिये तैयार हो गया।

किरण चारपाई पर पड़े-पड़े अनुराधा और मुकुल की बातचीत सुनती रही। मुकुलके बम्बई गमनके समाचारका उसकेहृदय पर क्या

प्रभाव पड़ा कह नहीं सकते, किन्तु जब मुकुल तैयार हो कर उससे विदा लेने के लिये गया, तो मुकुल के बोलने के पहले ही वह करुणा पूर्ण स्वर में बोल उठी-जा रहे हैं बाबू ... अच्छा नमस्कार !

हाँ बेटी, मै जा रहा हूँ, शीघ्र ही लौट आऊँगा !—मुकुल बोल उठा—तुम्हारी माता जी है ही ! तुम्हें कोई कष्ट न होगा।

पर किरण ने कोई उत्तर न दिया। वह केवल आँख बन्द करके रह गई। मुकुल फिर किरण से कुछ कहने के लिये मुख खोलना ही चाहता था, कि उसके पूर्व ही अनुराधा बोल उठी-गाड़ी छूट जायगी। किरण क्या कही चली जाती है !

मुकुल ने घड़ी की ओर देखा ! सचमुच गाड़ी का समय सन्निकट था। 'अच्छा बेटी मै जा रहा हूँ !' यह कह कर मुकुल ने विदा ली, किन्तु किरणने कोई उत्तर न दिया। जब उसने अपनी आँख खोली, तब मुकुल चला गया था। किरण की आँखें भर आईं। उसकी आँखों के वे आँसू ! उन्हे पृथ्वी के अतिरिक्त और कहाँ सहारा था !

× + + +

मुकुल के बम्बई चले जाने पर किरण का स्वास्थ्य दिनों दिन अधिक गिरने लगा। अनुराधा किरण के प्रति प्राय. उदासीन ही रहती। वह अपने कर्तव्य की इतिश्री केवल इतनी ही बात में समझती कि वह किरण को भोजन और पानी पूछ लिया करती थी। मुकुल के चले जाने पर अनुराधा ने कभी किसी डाक्टर को बुलाकर न दिखाया। किरण का स्वास्थ्य जब अधिक क्षीण हो गया, तब कभी-कभी वह पड़ोसके एक साधारण वैद्य को बुलाकर किरण को दिखा दिया करती थी, और उन्हीं वैद्य जी की दवा भी वह किरण को देती थी। यद्यपि मुकुल अपने हर एक पत्र मे बम्बई से लिखा करता, कि किरण की अच्छी से अच्छी चिकित्सा करना, पर अनुराधा मुकुल की इस बात पर कभी ध्यान न देती। वह जब अपने पत्र मे किरण की चर्चा करती,तो यही

लिखती, कि किरण का स्वास्थ्य धीरे धीरे ठीक हो रहा है। अनुराधा को इस बात की बहुत बड़ी चिन्ता रहती, कि कहीं मुकुल को किरण की वास्तविक स्थिति का पता न लग जाय। यदि कहीं ऐसा हुआ तो मुकुल एक क्षण के लिये भी बम्बई में न रुकेगा! और हजारों रुपये का व्यापार मिट्टी में मिल जायगा! अतः अनुराधा बार-बार लिखने पर भी मुकुल से किरण की वास्तविक स्थिति छिपाती रही; और उसने उस समय भी किरण की वास्तविक स्थिति मुकुल से छिपाई जब किरण सांसारिक बन्धनों को तोड़ कर दूर, बहुत दूर निकल गई!

धन्य है मानव का हृदय! स्वार्थ की शिला पर बैठ कर वह मानवता का गला घोंटने में तनिक भी संकोच नहीं करता!

[५]

दिन के दो-तीन बज रहे थे। दो महीने के पश्चात् मुकुल बम्बई से लौट कर, अपने द्वार पर ताँगे से उतरा। उसकी आकृति पर प्रफुल्लता नृत्य कर रही थी। बम्बई में रह कर, दो महीने मे ही, उसने पचीसों हजार रुपये पैदा किये थे। उसके साथ कई बाक्स भी थे, जिनमे तरह-तरह के सामान भरे हुये थे।

ताँगे से उतर कर मुकुल ने घर के भीतर प्रवेश किया। सर्व प्रथम उसकी दृष्टि किरण की चारपाई पर पड़ी। चारपाई खाली थी, और उस पर, खिड़की के मार्ग से आकर, एक सूर्य-किरण खेल रही थी। न जाने क्यों, मुकुल का हृदय आशंका से काँप उठा; पर फिर भी वह बोल उठा—किरण, बेटी किरण!!

मुकुल की वाणी कमरे में ही गूँज कर रह गई। चारपाई पर खेलती हुई सूर्य की किरण मुकुल के पैरों तक बढ़ आई। जब मुकुल को कुछ उत्तर न मिला, तब मुकुल ने सामने अनुराधा के कमरे की

ओर देखा। द्वार पर अनुराधा खड़ी थी; और उसकी आँखें कुछ डब-डबा हुई सी ज्ञात हो रही थी।

मुकुल की आँखों के सामने एक चित्र-सा खिंच गया। मुकुल ने उस चित्र मे देखा, अनुराधा पिशाचिनी की भाँति किरण को तड़पा-तड़पा कर मार रही है। मुकुल कुछ देर तक खड़ा-खड़ा उस चित्र को देखता रहा, फिर उल्टे ही पैरों घर से बाहर निकल कर अदृश्य हो गया।

कहाँ गया, कौन जाने, पर सुनते है उसके जाने के पश्चात् अनुराधा पागल हो गई, और वह चारों ओर घूम-घूम कर यही कहा करती थी, कि किरण की जान उसी ने ली, उसी ने। लड़के उसकी इस बात पर ताली बजाते थे; पर वह किसी की बात पर ध्यान न देकर केवल अपनी ही बात पर ध्यान देती थी।

लालसा का अन्त

सुभागी का शरीर गरम था, और वह अपनी चारपाई पर आँखें बन्द करके पड़ी थी।

दो वर्ष का उसका छोटा शिशु, उसके वक्षःस्थल पर लोट-लोटकर, कभी इस स्तन को और कभी उस स्तन को अपने मुँह में डाल रहा था, मानों कोई सन्यासी हो, जो अपनी आन्तरिक भूख से समाकुल होकर जगत द्वारा निर्मित ईश्वर के साकार और निराकार स्वरूप में सत्य का अनुसंधान कर रहा हो।

सुभागी चुपचाप, चारपाई पर चित पड़ी थी। उसके दाहिने हाथ का मध्यभाग नाक के ऊपर घेरा बनाकर पड़ा था। कह नहीं सकते, कि उसके मनके भीतर क्या था? किन्तु यह तो निश्चित है, कि उसकी आँखों में नींद नही थी। सहसा वह किसी के कंठ-स्वर को सुनकर बोल उठी—क्या है जीजी!

कंठ स्वर पार्श्व ही के एक दूसरे कक्ष से निर्गत हुआ था, और जिसके कंठ से निर्गत हुआ था, उसका नाम था सुजाता। सुजाता सुभागी के पति के बड़े भाई की, जो तहसील में मुख्तारी करते थे, पत्नी थी। सुभागी जब 'क्या है जीजी' कहकर मौन हो गई; और सुजाता की अधिक प्रतीक्षा के पश्चात् भी उसके सामने उसकी पर-छाईं न झलकी, तो सुजाता पुनः कुछ व्यंग्य-पूर्ण स्वर में बोल उठी—अरे, मैं पूछती हूँ कुछ खाना-वाना बनेगा या नहीं?

सुभागी ने सुजाता का कंठ-स्वर सुना; और यह भी अनुभव किया, कि उसका कंठ-स्वर व्यंग्य के धनुष पर वाण की भाँति खिंचा

हुआ है, पर फिर भी वह अपने स्वाभाविक ही स्वर मे बोल उठी—आज आप ही बना लीजिये जीजी ! आज मुझे ज्वर है ।

कह नही सकते, कि सुभागी के कथन के पूर्व सुजाता के हृदय में आग थी, या नहीं, किन्तु जब सुभागी ने अपनी बात समाप्त की, तब उसके साथ ही साथ सुजाता के हृदय में क्रोध की आग जल उठी; और वह जलकर इस प्रकार भड़क उठी, मानों उसमें घी की आहुति पड़ गई हो। सुजाता भीतर ही भीतर उस आग से जलकर बोल उठी—हाँ, मै क्यों न खाना बना लूँगी ? भीतर तुम आराम करो; और बाहर तुम्हारे छैला जी। मरने के लिये तो हमलोग है, जो मर-मरकर कमाये भी; और बना-बनाकर खाने के लिये भी दिया करे।

सुभागी अनेक बार सुजाता के मुख से अपने संबंध मे व्यंग्य सुन चुकी थी, और सुन चुकी थी ऐसी तीखी बात भी, जो इसमे सन्देह नही, कि बाण की ही भॉति उसके भीतर प्रवेश करके उसके अन्तस्तल मे छिद्र बना देती थी, पर सुभागी के अधर कभी न खुलते थे। हूक उसके हृदय के भीतर से उठती अवश्य थी, पर कंठ तक पहुँचने के पूर्व ही सुभागी उसपर अपना दृढ आधिपत्य स्थापित कर लेती थी, पर आज सुजाता ने जो व्यंग्य किया, और अपने व्यंग्य के द्वारा उसने जो तीर सुभागी के हृदय मे प्रविष्ट कराया, उससे सुभागी के हृदय ने एक नई प्रकार की पीड़ा का अनुभव किया। ऐसी पीड़ा सुभागी के हृदय मे कभी नही उठी थी। यह नई पीड़ा जब सुभागी के हृदय मे उठी, तो उठकर ऑधी की भॉति सारे अन्तर्जगत मे डोल गई। सुभागी को ऐसा ज्ञात हुआ, मानों इस नई पीड़ा से उसके अन्तर के तार-तार झंकृत हो उठे है। सुभागी अपने भीतर के तारों की झनझनाहट के स्वर मे बोल उठी—यह तो तुम नाहक ही लाछन लगा रही हो जीजी ! भला हमलोग कहाँ बैठे रहते है ! देखती हूँ, दिन भर बाहर तो खटते रहते है।

हाँ जी भीतर तुम खटती रहती हो; और बाहर वे!—सुजाता बोल उठी—आराम की वंशी तो हम लोग बजाते है, जो दिन-दिन भर धूप में कचहरी मे दौड़ा करते है। मै कहे देती हूँ, इस प्रकार नही चलने का। यदि खाना हो, तो काम करो, नहीं तो अपना हिस्सा-पाती लेकर अलग हो जाओ।

सुजाता अलग हो जाने की बात कह तो गई; पर न जाने क्यों भीतर ही भीतर उसका मन कांप उठा। ऐसी बात नही, कि सुभागी को अलग कर देने की बात कभी सुजाता के मन के भीतर उठी ही न रही हो; उठती अवश्य थी, पर वह भीतर ही भीतर चक्कर लगा कर रह जाती थी। आज जब वह अनायास ही बाहर निकल पड़ी, तब उसके औचित्य और अनौचित्य पर तो नही, किन्तु उसकी सफलता और असफलता की संदिग्धता से उसका हृदय अवश्य कंपित हो उठा। सुजाता के हृदय की भाँति काँप तो उठा सुभागी का हृदय भी, किन्तु उसके और सुजाता के हृदय-कंपन मे बड़ा अन्तर था। सुजाता का हृदय जहाँ यह सोचकर काँप रहा था, कि उसने जो बाण चलाया है, जाने उसका लक्ष्य ठीक सधेगा या नहीं; वहाँ सुभागी का हृदय एक अप्रत्याशित आघात से आन्दोलित होने लगा। सुभागी को ऐसा अनुभव हुआ, कि आज सुजाता के मुखसे एक नवीन और अद्भुत बात निकली है, किन्तु जब वह बात निकल ही गई; और उसने अपने उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये सुभागी के हृदय मे प्रवेश किया, तो सुभागी का हृदय आन्दोलित होने के साथ ही साथ स्वाभिमान के चर्खे पर घूम गया, और वह बोल उठी—अलग करने का मन है, तो अलग कर दो जीजी! जिस भगवान ने मुँह दिया है, वही खाने के लिये भोजन भी देगा।

सुजाता अलग करने की बात कह तो गई थी, किन्तु उसे आशा न थी, कि सुभागी उसकी बात का स्वागत करेगी। क्योंकि वह अपने

हृदय के भीतर सुदूर तक दृष्टि दौड़ाकर देख चुकी थी, कि सुभागी और उसका पति उसकी ही कृपा पर आश्रित है, किन्तु जब सुभागी ने उसकी वात का स्वागत किया, तब सुजाता के हृदय में जैसे क्रोध की चिनगारी सी छिटक उठी। वह भीतर ही भीतर उसी चिनगारी से उत्तप्त होकर बोल उठी—हॉ, हॉ मै भी समझती हूँ, तुम्हें ईश्वर पर कितना विश्वास है ! ईश्वर तुम्हारे ही लिये नहीं है, सबके लिये है। यदि ईश्वर पर बहुत भरोसा रखनेवाली हो, तो जब तक अलग न हो जाना, चारपाई से न उठना।

सुजाता की इस बात से सुभागी का हृदय दुख से परिपूर्ण हो उठा। उसके मनके भीतर जो स्वाभिमान उठ पड़ा था, वह दुखकी आगसे गल उठा, और सुभागी अवरुद्ध कंठ में बोल उठी—मैंने अलग हो जाने के लिये कब कहा, लेकिन जब आप अलग कर देनें पर तुली हुई है, तो अलग होना ही पड़ेगा।

सुजाता ने सुभागी के कंठ पर ध्यान न देकर उसके कथन पर ही विशेष ध्यान दिया। यदि वह सुभागी के कंठ पर ध्यान देती तो हो सकता है, कि उसके भीतर की आग कुछ मन्द पड़ जाती, और उसकी वाणी मे भी कुछ कोमलता आ जाती, किन्तु उसने जो उसके केवल कथन पर ही ध्यान दिया, उससे उसके भीतर की आग और भी अधिक जल उठी; और वह उस आग को अपनी वाणी द्वारा विखेरती हुई बोल उठी—हॉ, हॉ अलग हो न जाओ ! तुम्हें शपथ है, जो आज विना अलग हुये अन्न-जल ग्रहण करो। तुम समझती हो, जमीन जायदाद में आधा हिस्सा बॅटा लोगी, पर इन सब में एक रत्ती भी न मिलेगा। लोटा थाली, जो पुरखे छोड गये थे, उसमें चाहे जो ले लो !

तो मैने यह कब कहा,—सुभागी दुख पूर्ण स्वर में बोल उठी—कि जमीन जायदाद मुझे बॉट दीजिये! मुझे कुछ न चाहिये।

चाहिये तो बहुत कुछ !—सुजाता वोल उठी—पर जब मिले, तब न !

पर अब सुभागी ने सुजाता की इस बात का कुछ उत्तर न दिया। यदि वह चाहती तो उत्तर दे सकती थी। क्योंकि उत्तर देने के लिये उसके हृदय में आँधी के झँकोरे की भाँति शब्द उठ रहे थे। पर सुजाता की इस अन्तिम बात से उसके हृदय में जो वेदना उभड़ पड़ी; उसने आँधी के उस झँकोरे को सुला दिया, और वह अधिक उदास होकर मन ही मन उस वेदना से खेलने लगी। पर सुजाता को यह आशा न थी, कि सुभागी इतने शीघ्र चुप हो बैठेगी। अतः जब सुभागी से उसे कुछ उत्तर न मिला; तब वह पुनः अपने आप ही बोल उठी--आज लौट कर आने दो! एक तिनके का दो टुकड़ा करके ही छोड़ूंगी!

सुजाता अपनी बात समाप्त ही कर रही थी, कि उसके पति, राममोहन ने घर में प्रवेश किया। यद्यपि राममोहन थके-माँदे कचहरी से सीधे घर चले आ रहे थे, और स्पष्टतः उनकी आकृति पर परिश्रम की क्लान्ति दृष्टि गोचर हो रही थी; पर जैसे वर्षाऋतु के प्रथम बादलों को उनया हुआ देखकर मुरझायी लता हरहराकर उठ बैठती है, उसी प्रकार सुजाता का हृदय राममोहन को देखते ही आवेग से परिपूर्ण हो उठा! आवेग तो पहले भी सुजाता के हृदय में था; किन्तु पहले आवेग जहाँ ईर्षा, क्रोध, और वैमनस्य का था; वहाँ अब उसका स्थान दुख ने ले लिया। सुजाता राममोहन को देखते ही फुफकार कर रो उठी! कह नहीं सकते, उसके उस रुदन में वेदना और दुःख का कितना अंश था; पर राममोहन के हृदय को द्रवीभूत करने के लिये पर्याप्त था। राममोहन ने विस्मित और पीड़ित होकर जब सुजाता से उसके रुदन का कारण पूछना आरंभ किया, तब पहले तो सुजाता ने कुछ बताया ही न! ऐसा ज्ञात होता था, मानों जिस वेदना की आग से उसका हृदय पिघल कर बह रहा है; उसकी आँच अधिक तीव्र है, पर जब राममोहन ने अधिक आग्रह किया; और बार बार विश्वास

और सहानुभूति का उस पर मरहम लगाया; तब वह कैकेयी की भाँति ही बोल उठी, और जब वह बोल उठी, तब यह कह नहीं सकते, कि दशरथ की भाँति ही;पर इसमें सन्देह नही, कि राममोहन की आकृति पर चिन्ता खेल गई, और उनका एक हाथ मस्तक पर जा पड़ा।

राममोहन सुजाता के संमुख अपनी इस अवस्था मे देर तक बैठे रहे। बीच-बीच मे सुजाता स्वयं बोल कर उनकी मौन-स्थिति को भंग करने का प्रयत्न अवश्य करती थी, पर राममोहन की हृदय-वीणा इतनी स्पन्दन-हीन हो गयी थी, कि उससे 'हाँ' और 'ना' का अर्द्ध प्रस्फुटित स्वर भी निर्गत नही हो रहा था। कह नही सकते,कि उनके उस स्पन्दन हीन हृदय के भीतर ही भीतर कौन सी सृष्टि हो रही थी।

[२]

मनुष्य के दुर्बल मन के लिये स्वार्थ में बड़ा आकर्षण होता है। मन की अन्यान्य मानवीय प्रवृतियाँ बड़े यतन से चुन-चुन कर अपना बाजार लगाती है, किन्तु जब उस हाट मे स्वार्थ का प्रवेश होता है, तो मन दया, सहानुभूति, समता और अहिसा प्रभृति मानवी प्रवृतियों को छोड़ कर उसी की ओर दौड़ पड़ता है, और इस प्रकार दौड़ पडता है, कि उसे फिर किसी की स्मृति तक नही रह जाती। इसमें सन्देह नही कि राममोहन के हृदय मे अपने छोटे भाई, प्रमोद के लिये स्नेह था, और यद्यपि प्रमोद उनकी भाँति घर की आय बढानेमें सक्षम नही था, पर फिर भी उन्होंने कभी यह न सोचा, कि वे पैदा कर रहे है, और प्रमोद बैठ कर खा रहा है, इस लिये उसे अलग करके उसके भाग्य पर छोड दिया जाय, किन्तु जब उनकी पत्नी,सुजाता ने, उनके हृदय में स्वार्थ का अंकुर रोपा,और वह अंकुर बढ कर लहलहाने लगा, तव उसने राममोहन के हृदय को चारों ओर से ढँक लिया और फिर राममोहन नें अपनी दृष्टि को, जीवनाकाश के स्वार्थ-नक्षत्र मे ही केन्द्रित कर दिया।

राममोहन के पिता, महीपतराम जब मरे थे,तब छोड़ने के नाम पर वे केवल राममोहन के पास मुख्तारी छोड़ गये थे। उन्होंने राम मोहन को बड़े दुख के साथ लिखाया-पढ़ाया था। राममोहन को लेकर उनकी एक स्वर्णिम आकांक्षा थी। वे उस स्वर्णिम आकांक्षा की लकड़ी हाथ से पकड़कर जी रहे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि यदि महीपत राम जीवित होते तो देखते, कि उनकी उजड़ी हुई वाटिका किस भॉति विहॅस रही है, पर उन्हें यह देख कर अधिक दुख हुये भी विना न रहता, कि हॅसती हुई वाटिका के भीतर स्वार्थ की ऑधी चल रही है, और वह उसकी हरी-हरी लताओं और शाखाओ को तोड़-फोड़ कर उसे फिर उसके प्राचीन स्वरूप में परिवर्तित कर देने के लिये तीव्रगति से हरहरा रही है! राममोहन ने बड़े परिश्रम से उस उजड़ी हुई वाटिका को सवॉर कर तैयार किया था! इसी लिये तो जब सुजाता ने राममोहन के हृदय में स्वार्थ का अंकुर लगाया तब राममोहन के हृदय की स्वार्थ पूर्ण ममता उस वाटिका में आसन जमाकर बैठ गई, और इस प्रकार बैठ गई, कि फिर राममोहन प्रमोद को कुछ न देने के लिये अपनी मुख्तारी की संपूर्ण कला का प्रयोग करने में भी न चूके!

राममोहन तहसील के अच्छे मुख्तार थे। मुख्तारी में उनकी कला प्रसिद्ध थी। न्याय को अन्याय,और सत्य को असत्य जब किसी को प्रमाणित करना होता था, तब वह राममोहन की ही कुशलता का अंचल पकड़ता था। राममोहन उसे फिर कानून का ऐसा खोल पहनाते थे, कि किसी को रंच मात्र सन्देह ही न होता था,कि यह असत्य है और यह अन्याय है! राममोहन जब अपने भाई प्रमोद को अलग करने लगे, तो सम्पत्ति का बॅटवारा करने में भी उन्होंने अपनी उसी कानूनी कुशलता का प्रयोग किया। उन्होंने यह कह कर सारी सम्पत्ति का बॅटवारा करने से अस्वीकार कर दिया, कि यह हमारी निज की

पैदा की हुई है। उन्होंने बँटवारे के लिये जो चल और अचल सम्पत्ती छाँटी, वह कुल दो बीघा खेत, और एक पुराना मकान था। प्रमोद को बँटवारे में एक बीघा खेत, और केवल पुराने मकान का एक भाग मिला। देखने वालों ने मन ही मन राममोहनकी इस कानूनी कुशलता की भर्त्सना की, किन्तु किसी मे साहस न हुआ, कि वह इस बात को अपने ओंठ पर लाये। कौन इस बात को अपने ओंठ पर लाकर राममोहन के वैर का भाजन बनता। आये दिन तो उनसे सबका काम पडा ही करता था। मनुष्य को जब अपने स्वार्थ का स्मरण होता है; तब वह न्याय और सत्य को भूल जाने में तनिक भी विलंब नहीं करता।

आज के समाज में दुर्बलों के लिये 'सत्य' और 'न्याय' बिलकुल नही है। प्रमोद को भी 'सत्य' और 'न्याय' से वंचित ही होना पड़ा। यद्यपि कानून की दृष्टि से प्रमोद को सम्मिलित संपूर्ण संपत्ति का ठीक-ठीक अर्द्ध भाग मिलना चाहिये था, किन्तु जब राममोहन ने पूरी सम्पत्ति का बँटवारा करने से अस्वीकार कर दिया; और न्याय की पुकार करने पर भी किसी ने प्रमोद का पक्ष न लिया तो प्रमोद का हृदय पीड़ा से मथ उठा। वह राममोहन की तरह पढ़ा-लिखा तो न था; पर राममोहन से कहीं अधिक मानवता प्रमोद के हृदय में थी। उसके द्वारा भले ही घर की आय मे वृद्धि न हुई हो, पर कुटुम्ब की मानवीय आय में उसके द्वारा सदा से वृद्धि होती रही है। जब कभी सुजाता और सुभागी में किसी बात को लेकर विवाद खडा हो जाता, तब वह विवाद में सुजाता का ही पक्ष लिया करता था। सुजाता के पक्ष का समर्थन करते हुये वह कभी कभी सुभागी की भर्त्सना भी कर दिया करता था। उसके हृदय मे दुख की लहरे सी नाच उठी, जब उसने यह सुना, कि उसके बड़े भाई राममोहन उसे अलग करना चाहते है! उसने यथा शक्ति प्रयत्न किया, कि जो आग उठ पड़ी है,

वह अधिक न बढ़ कर अपने स्थान पर ही बुझ जाय; पर जब उसने देखा, कि उसके भाई राममोहन स्वयं उस आग को प्रज्वलित करने में फूँक मार रहे हैं; तब उस का हृदय दुख से मथ उठा। उस समय उसका हृदय और भी अधिक दुख से मथ उठा, जब उसने देखा, कि राममोहन सम्पत्ति का बँटवारा करने में अन्याय से काम ले रहे हैं; और एक भी ऐसा मनुष्य नहीं है, जो उनके अन्याय के विरोध मे अपने हृदय की सहानुभूति उसे प्रदान कर सके! प्रमोद का हृदय भीतर ही भीतर क्रन्दन कर उठा; और उसने मन ही मन यह दृढ निश्चय किया, कि वह न तो बँटवारे में मिला हुआ अपना भाग लेगा; और न अब यहाँ रहेगा! सुभागी ने प्रमोद के इस निश्चय को तोड़ने का अधिक प्रयत्न किया। उसने प्रमोद को समझाया, कि वह उसके पीहर से सहायता लेकर न्यायालय की शरण ले; पर प्रमोद को उसका यह विचार अधिक तुच्छ सा लगा, कि वह सम्पत्ति के लिये अपने भाई पर अदालत मे नालिश करे!!

प्रमोद अपने विचार पर दृढ़ रहा, और एक दिन वह नेत्रों में अश्रु भर कर अपनी स्त्री और बच्चे को लेकर भाग्य के भरोसे अपने स्थान से विदा हो गया। जब वह अपना स्थान छोड़ रहा था; तो राममोहन तो घर पर नही थे, पर सुजाता थी। प्रमोद जाते समय सुजाता का पैर छू लेना चाहता था। अतः वह अधिक साहस करके सुजाता के पास गया, किन्तु सुजाता ने उसे देखते ही अपना मुँह मोड़ लिया; और प्रमोद की आँखों मे भरे हुये आँसू 'टप्, टप्' भूमि पर गिर पड़े। सचेतन की संज्ञा से पूर्ण सुजाता ने उन अश्रु-बूँदों को देखा भी, या नहीं, पर मूक पृथ्वी ने मोतियों की भाँति झड़ता हुआ देख कर उन्हें अपने अंचल में ले लिया।

[३]

सुजाता का गार्हस्थ्य जीवन बड़े सुखसे बीत रहा था। जब उसने

सुभागी को अलग किया था, और सुभागी भी अपने पति की ही भाँति साश्रु नेत्रों से पास-पड़ोस की स्त्रियों से विदा माँगकर घर छोड रही थी, तब कई स्त्रियो के मुखसे उसके प्रति सान्त्वना के शब्द निकलने के साथ ही साथ ये शब्द भी निकल गये थे, कि सब्र का फल बड़ा मधुर होता है, और अधर्म मुँह फैलाकर मनुष्य को निगल जाता है, किन्तु जब कुछ दिनों के पश्चात् भी सुजाता की गृहस्थी मे धब्बा न लगा; और उसकी कला दिन प्रति दिन अधिक बढने लगी, तब सुजाता का वह हृदय, जो उन स्त्रियों की 'अधर्म' की बात सुनकर काँप उठा था; और जिसमे स्वयं ही सुभागी के प्रति किये गये व्यवहारों को सोच-सोचकर भय और आशंका की तरंगे उठा करती थी, अभिमान से फूल उठा, और सुजाता अपने को सही मार्ग पर समझने लगी। कभी-कभी वह ताने ओर व्यंग्य के रूपमे उस स्त्री के सामने, जिसने 'अधर्म' की व्याख्या की थी, या जो उस व्याख्या में सम्मिलित थी, अपने हृदय का गर्व प्रगट भी कर दिया करती थी। सुजाता को इस बात की बिल्कुल चिन्ता नही रहती थी, कि जिसके सम्मुख वह अपना गर्व प्रगट कर रही है, उसका हृदय उसे किस रूपमे ग्रहण कर रहा है, पर उसे सबसे अधिक चिन्ता इस बात की रहती थी, कि उसके गर्व मे उसके हृदय की जितनी अधिक ऐंठ प्रगट हो सके, हो।

राममोहन की मुख्तारी हाथ फैलाकर धन बटोर रही थी। पर सुजाता के हृदय मे सन्तोष का चिह्न तक न था। ज्यों ज्यो धन बढ़ रहा था, त्यों त्यों सुजाता के मन की स्पृहा भी बढती जा रही थी, और जब सुजाता के मन की स्पृहा बढ रही थी, तब राममोहन के हृदय मे भी उसकी प्रेरणा होती ही थी; और वे अपनी आरक्त रसना निकालकर इधर-उधर देखने लगते थे। निदान, पति-पत्नी ने एक राय होकर व्याज पर रुपये देने आरंभ कर दिये। पुरुषों मे राममोहन

इस काम को करते थे; और स्त्रियों में सुजाता। लोग कहते है, कि ब्याज का धन जल के वेग की भाँति बढ़ता है। मैं कह नही सकता, कि लोगों के इस कथन में सत्य का कितना अंश है, पर यह बात तो सुनिश्चित रूपसे कही जा सकती है, कि जब राममोहन ने ब्याज पर रुपया देना आरंभ किया, तो कुछ ही दिनों में उनका धन जल के वेग की भाँति बढ़ गया, और इतना बढ़ गया, कि अब राममोहन मुख्तारी छोड़कर स्वतंत्र रूप से रुपयों के व्यवसाय में ही लग गये।

यद्यपि राममोहन के रुपयोंके ढेर के नीचे न जाने कितनी करुणा से लिपटी हुई उज्वल आँखें सिसक रही थीं; और न जाने कितनी दीर्घ निश्वासें घुट-घुटकर अपना तार तोड़ रही थी, पर राममोहन और सुजाता ने कभी उनकी ओर ध्यान ही नही दिया। इसके प्रति-कूल पति-पत्नी; और भी उनपर रुपयों का ढेर लगाते गये। राममोहन और सुजाता ने सदा रुपयों की ओर ही अपना ध्यान रक्खा। रुपयों के अतिरिक्त संसार में मानव का हृदय भी होता है, इस ओर राम-मोहन और सुजाता ने कभी ध्यान भी नही दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि रुपया तो राममोहन ने एकत्र किया, पर मानव हृदय की सहानुभूति से पति-पत्नी पूर्णतः वंचित रहे। भले ही उनके सामने किसी के अधर पर बात न आती थी, पर यह तो सन्देह रहित है, कि न जाने कितने हृदयों में उनके सर्वनाश के लिये अभिशाप की आग धधक रही थी।

सुजाता अभिशाप की इस आग से भले ही अपरचित रही हो, पर राम मोहन तो स्पष्ट रूप से देख रहे थे; कि न जाने कितनी आखे उनके विनाश के लिये ईश्वर के सामने अपना अंचल पसारे हुये है, और न जाने कितने मूक हृदय, उन्हें ढक लेने के लिये, अपने अभि-शापों का सघन धूम छोड़ रहे हैं। उन आँखों और उन हृदयों में कभी-कभी राममोहन को उनके भाई प्रमोद की आँखे और उसका

हृदय भी दृष्टिगोचर होता था। इससे राममोहन के हृदय में कभी-कभी ग्लानि अवश्य उत्पन्न हो जाती थी, पर यह ग्लानि वह ग्लानि न होती थी, जो मनुष्यकी आत्मा को विकंपित कर देती है, और जिसमें मनुष्य के मनमे विरक्ति उत्पन्न कर देने की अगाध शक्ति होती है। उस ग्लानि से इसमें सन्देह नहीं कि कॉप तो राममोहन का हृदय भी उठता था, पर वह कम्पन थोड़ी ही देर तक रहता था। अर्थ का भयानक लोभ जो उनके अन्तर के कोने में जन्म जात संस्कार की भाँति समाया हुआ था, उससे उसमे फिर स्थिरता आ जाती थी, और वे सब कुछ भूल कर फिर अर्थ के मार्ग पर तीव्र गति से दौड़ने लगते थे।

राममोहन जब मुख्तारी छोड़कर स्वतंत्र रूप से व्यवसाय करने लगे, और जब उन्नति पंख फैलाकर चारो ओर उनके समीप आने लगी तब उनके मनमें और भी अधिक स्पृहा जागृत हो उठी। वे फाटका खेलने लगे। फाटका में भी लक्ष्मी ने राममोहन के पैरों को चूमा! देखते ही देखते राममोहन करोड़ों के अधिपति हो गये, पर फिर भी क्या उनकी लालसाओं का अन्त हुआ? कदाचित् मनुष्य की लालसाओंका कभी अन्त होता ही नही? यदि मनुष्यका वश चले,तो उस समय भी वह अपनी लालसाओं की हाट लगाने से न चूके, जिस समय उसका पार्थिव संसार धू-धू कर आग से जलता रहता है।

लालसाये मनुष्य के मनको अधिक प्रिय होती है। जितनी तीव्रता के साथ मनुष्य इनके पीछे दौडता है, उतनी तीव्रता के साथ कभी मनुष्य के पीछे वह नही दौड़ती, जिसके सम्बन्ध मे यह कहा जाता है, कि वह मनुष्य का जनक है! पर कदाचित् मनुष्य यह नहीं जानता, कि लालसाये उसे अपने अङ्क में चिपकाकर भागती तो है, पर उसे मरुस्थल मे लेजाकर पटक भी देती है। बड़ी दुर्गति करती

हैं-ये लालसायें मनुष्य की उस मरुस्थल में ! नाम लेने वालों में केवल चील्ह और कौवे ही उसका नाम लेते है,और क्रोध से अपने नेत्र लाल-लाल करके उस पर चोंच मारते है ।

राममोहन भी लालसाओं को सुखद समझ करके ही उनके साथ दौड़े थे। इसमें सन्देह नहीं, कि लालसाओं ने राममोहन को बड़े-बड़े हरे उपवन दिखाये, पर अपने स्वभाव और धर्मके अनुसार आखिर उन्हें भी मरुस्थल में लेजाकर पटक ही दिया! राममोहन जिस प्रकार फाटके में देखते-देखते करोड़ों के अधिपति बने थे, उसी प्रकार फाटके में देखते-देखते वे दरिद्र भी बन गये ! उन पर इतना ऋण हो गया, कि घर का जो वास्तविक धन था, उसकी आग में वह भी स्वाहा हो गया। राममोहन की कमर टूट गई, और वे ऐसे झुके, कि पृथ्वी पर और भी झुकने के लिये कही स्थान ही नही रह गया।

अर्द्ध रात्रि का समय था ! राममोहन चारपाई पर पड़े हुये थे। पास ही एक और चारपाई थी; जिस पर सुजाता अपने दो बच्चोंके साथ सो रही थी। पर राममोहन की आँखों में नीद नहीं। उनको आँखों के सामने रह-रह कर वे दिन आ रहे थे; जब वे मुख्तारी कर रहे थे; और उनका भाई प्रमोद उनके साथ ही रहता था। वे मुख्तारी करते थे, और प्रमोद घर का सारा काम-काज सँभाले हुये था। कितनी शान्ति रहती थी मनमें उस समय ! दिन भर के परिश्रम के पश्चात् जब थके माँदे घर आते थे; तो प्रमोद के प्यार भरे 'भैया' शब्द से ही सारी क्लान्ति दूर हो जाती थी, और प्रमोद का वह छोटा सा शिशु जब छाती पर लोट-लोट कर 'दादा, दादा' कह उठता, तब तो जैसे सुख और शान्ति की एक धारा—सो प्रवाहित हो उठती थी! प्रमोदकी स्त्री, वह सुभागी ! राममोहन के घर में प्रवेश करते ही पंखा और शीतल जल का गिलास लेकर सामने खड़ी हो जाती ! उसकी

सरलता और भक्ति से कैसा शुभ्र चन्द्र हृदय केआकाश मे उदित हो उठता था, पर सुजाता ... ! सुजाता ने अर्थ की लालसा हृदय मे उत्पन्न करके सुख का वह वास्तविक संसार धूलि में मिला दिया।

राममोहन अपनी मुख्तारी के दिनों के चित्रों को देख-देख कर मन ही मन दुख से अधिक कातर हो रहे थे। वे अपने इन दिनों के चित्रों से, कभी कभी उन चित्रों की समता भी करते थे, जब वे करोडों के अधिपति थे। यह सच है, कि वे करोड़ों के स्वामी थे, पर कभी क्या उनके मन में शान्ति थी? दिन-रात अर्थ-लोभ के फन्दे मे आग्रस्त होकर इधर से उधर परिभ्रमण किया करते थे। उन्होंने अर्थ का संचय करने में कभी मानवता का समादर नहीं किया! जब कभी गिड़गिड़ाती और कॉपती हुई ऑखे, उनके समक्ष आई होगी, तब उन्होंने कुछ देने के स्थान पर दुतकार ही दिया होगा। वह व्याज का पैसा! यह सच है, कि पैसा जल के प्रवाह में बह गया; पर क्या यह सच नहीं है, कि उसके नीचे शत-शत करुणा से लिपटी हुई मूक ऑखे दबी थी, जो अब भी अपनी चिर मौनिमा में अभिशाप उगल रही है!

राममोहन को ऐसा ज्ञात हो रहा था; मानों रात्रि के अंधकार मे सचमुच सैकड़ों श्वेत और खूनी ऑखे उनकी ओर देख रही है। राममोहन के हृदय के भीतर रह-रह कर लहरों की भॉति कंपन उत्पन्न हो रहा था; और ऐसा ज्ञात हो रहा था, मानों उनका सारा अन्तर्लोक ही दुख से बैठा जा रहा है। राममोहन के हृदय का दुख उस समय और भी अधिक बढ जाता; जब उनकी दृष्टि अपने वर्तमान जीवन पर जाकर रुक जाती। कितना कष्ट पूर्ण हो गया था राममोहन का वर्तमान जीवन! राममोहन कभी घर से बाहर न निकलते थे! उन्हे ऐसा लग रहा था; जैसे उनकी आकृति पर कलंक की घनतर कालिमा पुती हो। एक भी कोई ऐसा व्यक्ति न था, जो उनके प्रति सहानुभूति लेकर आता। राममोहन ने कभी सहानुभूति का समादर किया ही

नहीं ! जो कभी दिन रात उनके चरणों के पास बैठे रहते थे, आज वे भी उनसे अपनी परछाईं बचाते हुये फिरते हैं ! चारों ओर से उनकी टूटी हुई कमर के ऊपर व्यंग्य और अपवादों की वर्षा !!

राममोहन दुख से कॉप उठे। वे मन ही मन, कुछ देर तक दुख से कॉप कर सोचते रहे। फिर सुजाता की ओर लक्ष्य करके बोल उठे—क्यों, सो रही हो ?

यद्यपि सुजाता की आँखों में नींद थी; पर जब राममोहन ने उससे प्रश्न किया, तब वह अचकचाकर अर्द्ध-प्रस्फुटित स्वर मे बोल उठी—नहीं तो, क्या है ?

पर राममोहन के मुखसे शीघ्र कोई बात निकल न सकी। वे सुजाता से प्रश्न करके पुनः गंभीरता के समुद्र में निमग्न से हो उठे थे। सुजाता अपनी बात समाप्त करके मौन हो गई। उसे इस बात की प्रतीक्षा भी न थी, कि राममोहन उससे कुछ कहेंगे। पर राममोहन कुछ देर तक मौन रहकर अपने आप ही फिर बोल उठे—प्रमोद की तरह मै भी कल्ह इस स्थान को छोड़ दूँगा।

क्यों ?—सुजाता चकित होकर बोल उठी !

पर राममोहन ने सुजाता के इस 'क्यों' का कुछ उत्तर न दिया, और जब प्रभात हुआ, तो अड़ोस पड़ोसवालों ने देखा, कि राममोहन भी अपने भाई प्रमोद की भॉति अपना पैतृक घर छोड़कर चले जा रहे हैं। उनके और प्रमोद के घर-परित्याग में इतना ही अन्तर था, कि प्रमोद जब अपना घर छोड़कर जब जाने लगा था, तो अड़ोस-पड़ोसवालों की ऑखों से ऑसू निकल आये थे, किन्तु अब जब राम-मोहन घर छोड़ रहे थे, तब लोग कर रहे थे उनपर व्यंग्य वर्षा !

[४]

दोपहर का समय था। कलकत्ता मे वड़ू बाजार की सड़क की पटरी से दो स्त्री-पुरुष शनैः शनैः आगे बढ़े जा रहे थे। साथ में दो

बच्चे भी थे, जिनमें एक तो पुरुष की अँगुली पकड़े हुये था, और दूसरा स्त्री की गोद में था। दोनों ही यद्यपि विस्मित दृष्टि से इधर-उधर देख रहे थे, पर ऐसा लगता था, मानों उन्हें कई महीने से भोजन और वस्त्र की असुविधा रही हो। स्पष्टतः उनकी आकृति पर वेदना के चिह्न थे; और नेत्रों से औदास्य टपक रहा था। पुरुष और स्त्री की आकृति तो बिलकुल उधड़-सी गई थी। रूखे रूखे बाल, और आकृति पर चिन्ता की झुर्रियाँ पड़ी हुईं। देखने से ही यह ज्ञात हो जाता था, कि उनके हृदय के भीतर कोई भयानक अग्नि है, जिसने उनका भीतर और बाहर दोनों ही जला कर भस्म कर दिया है।

चिन्ता तो थी स्त्री की आकृति पर भी, पर उसकी आकृति पर उतनी गंभीरता नहीं थी, जितनी पुरुष की आकृति पर। पुरुष तो जैसे चिन्ता के साथ गंभीरता की लहरियों से क्रीड़ा-सा कर रहा हो। वह हाथ से अपने बच्चे की उँगली पकड़े हुये इस प्रकार शनैः शनै आगे बढ रहा था, मानों उसके पैरों मे शत-शत मन का भार बँधा हो। वह कभी-कभी इधर-उधर देखने भी लगता। कभी जब किसी बहुत बड़ी कोठी के सामने से निकलता तो, उसके द्वार पर कुछ देर के लिये ठिटक भी जाता। कदाचित् कोठी को देखकर उसके मनमें नौकरी की आशा जागृत हो उठती हो, या और अन्य प्रकार की सहायता की आकांक्षा से उसका मन आन्दोलित होने लगता हो।

पर किसी कोठी के भीतर जाने का सहसा उसे साहस न होता, और न सहसा उसे इस बात का ही साहस होता, कि वह किसी से कुछ कहे। वह केवल कुछ देर तक स्थिर होकर रूखी दृष्टि से कोठी की ओर देखता; और फिर अपनी अनिश्चित अनन्त यात्रा में तार जोड़ने लगता। उसके हृदय की विवश आशा और आकांक्षा! उसका रहस्य बड़ा निगूढ है।

इस प्रकार जब वह आगे बढता हुआ एक कोठी के द्वार

पर पहुँच रहा था, तब उसके पहुँचने के साथ ही एक मोटर द्वार पर आकर रुक गई, और एक संभ्रान्त व्यक्ति मोटर का द्वार खोल कर निकल पड़ा। पुरुष उस व्यक्तिके संमुख पड़ना तो नहीं चाहता था, पर जब वह द्वार खोलकर बाहर निकला तो बरसातीमें वह उसके सामने पड़ ही गया। दोनों की आँखे अनायास ही एक दूसरे से मिल गई। पुरुष बरसाती लाँघ कर आगे बढ़ा और व्यक्ति कोठी मे सीढियों के ऊपर! सीढ़ियों के ऊपर रुककर उसने फिर पीछे की ओर देखा। जैसे चलते-चलते उसे किसी बात का स्मरण हो आया हो।

पीछे जब उसे कोई दृष्टिगोचर न हुआ, तो वह पुनः एक सीढी ऊपर गया, और फिर उसने रुक कर पीछे की ओर देखा। द्वार पर चपरासी बैठा हुआ था। एक पैर ऊपर की सीढ़ी पर, और दूसरा नीचे की सीढी पर रक्खे हुए वह व्यक्ति मन ही मन कुछ देर तक सोचता रहा। जैसे वह किसी वस्तु का तारतम्य ठीक कर रहा हो, या अपनी किसी धुँधली स्मृतिको स्पष्ट करनेका प्रयत्न कर रहा हो!

कह नही सकते, कि उसका तारतम्य ठीक हुआ या नही, और उसकी धुँधली स्मृति स्पष्ट हो सकी या नही, पर वह कुछ ही क्षणों के पश्चात् पुनः पीछे की ओर मुड़ पड़ा। उसने बरसातो में पहुँच कर एक बार सामने पटरी पर दृष्टि डाली। फिर वह द्रुत गति से सामने हो की ओर चल पड़ा। अभी जिस पुरुप की आँखों से उसकी आँखें मिल गई थी, और जो अपनी स्त्री और बच्चों के साथ अपनी अनिश्चित अनंत यात्रा मे तार जोड़ने में संलग्न था, वह द्रुत गति से चलकर, उसके आगे जाकर पहुँचगया। उसने एक-बार आँखों के कौशल से, स्त्री-पुरुष दोनों को ही ध्यान से देखा, फिर कुछ देर तक मन ही मन सोचता रहा, और फिर जैसे आँधी के वेग से लता, लता की ओर झुक पड़े!

"भैय्या"! व्यक्ति झपट कर पुरुष के गले से लिपट गया।

पुरुष ने चकित होकर व्यक्ति की ओर देखा, और उसके मुखसे निकल पड़ा—प्रमोद !!

हाँ वह प्रमोद ही था, जो राममोहन के ज्ञान-कौशल से उदासीन होकर घर छोड़कर कलकत्ता चला आया था ; और अपने पुरुषार्थ से अब करोड़ो का स्वामी था। पाठक, आप समझ गये होंगे, कि वह पुरुष कौन था ? वे थे वही राममोहन मुख्तार।

राममोहन की आखे सजल हो उठी, और थोड़ी ही देर मे प्रमोद की छाती उनके आँसुओंसे अभिषिक्त सी हो उठी। प्रमोद की आँखे भी टप्-टप् मुक्तादान करने लगी ! दोनों की आँखों का मुक्तादान ! मूक पृथ्वी और मौन आकाश ही उसका मूल्य आँक सकता है !

समाप्त

मुद्रक—प० वैकुंठनाथ भार्गव आनन्द सागर प्रेस गायघाट, बनारस।

शुभ-सूचना

[illegible] कार्यालय इलाहाबाद की हिन्दी साहित्य की १३२ पुस्तकों, जिनका नाम भार्गव पुस्तकालय से पत्र द्वारा मालूम हो सकता है, का कापी राइट सर्वदा के लिये छापने व बेचने का अधिकार भार्गव पुस्तकालय के अध्यक्ष पं० बैकुंठनाथ भार्गव ने १ दिसम्बर १९४८ को प्रयाग में नीलाम में खरीद लिया है। इनमें से नीचे लिखी कुछ पुस्तके प्रकाशित हुई है।